



वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

SW-04

Indian Social Structure

भारतीय सामाजिक संरचना

अनुक्रमणिका

इकाई	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	समाज	1-12
इकाई 2	सामाजिक व्यवस्था	13-27
इकाई 3	सामाजिक प्रक्रिया	28-32
इकाई 4	सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष	33-43
इकाई 5	संस्था एवं सामाजिक कार्य	44-49
इकाई 6	विवाह एवं परिवार	50-62
इकाई 7	सामाजिक समूह	63-75
इकाई 8	समाजीकरण	76-88
इकाई 9	सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण	89-96
इकाई 10	सामाजिक नियन्त्रण	97-110
इकाई 11	संस्कृति और व्यक्तित्व	111-118
इकाई 12	संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव	119-124

इकाई-1

समाज का अर्थ एवं परिभाषा तथा मानव एवं पशु समाज

(Meaning and Definitions of Society and Human Society and Animal Society)

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य (Objectives)
- 1.1 प्रस्तावना (Preface)
- 1.2 समाज (Society)
 - 1.2.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Society)
 - 1.2.2 मानव एवं पशु समाज (Human Society and Animal Society)
- 1.3 सारांश (Summary)
- 1.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 1.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- समाज की परिभाषा एवं अर्थ को जान सकेंगे।
- मानव एवं पशु समाज से परिचित हो सकेंगे।
- मानव तथा पशु समाज के बीच अन्तर को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में समाज का अर्थ एवं परिभाषा तथा मानव एवं पशु समाज के बारे में बताया गया है। जैसा कि हम जानते हैं कि समाज सामाजिक सम्बन्धों के जाल को कहते हैं मानव समाज से तात्पर्य ऐसे समाज से है जिसकी एक संस्कृति तथा सभ्यता हो जबकि पशु समाज कि कोई संस्कृति नहीं होती दोनों में मुख्य अन्तर यही है।

1.2 समाज (Society)

1.2.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Society)

मानव समाज को समझने के लिए सर्वप्रथम समाज की अवधारणा का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक निश्चित व्यवस्था है। इसका निर्माण व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहारों, क्रियाओं तथा अन्तर्सम्बन्धों के फलस्वरूप होता है। इन सम्बन्धों तथा व्यवहारों का निर्माण व्यक्ति मनमाने ढंग से नहीं करता है बल्कि अनेक नियमों के द्वारा व्यवस्थित तथा सुसंगठित रूप से किया जाता है। यह सामाजिक सम्बन्ध मात्र समाज का निर्माण ही नहीं करते, वरन् समाज में मनुष्यों के क्रियाकलापों को नियंत्रित व व्यवस्थित करते हैं। अतः स्पष्ट रूप में मानव जीवन में सम्बन्धों एवं प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों, संहिताओं, मान्यताओं आदि के विस्तृत रूप में व्याप्त जाल को समाजशास्त्र में समाज की संज्ञा प्रदान की जाती है।

समाज एक अमूर्त परिवर्तनशील सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। मानव समाज में व्यक्तियों के विचारों, मूल्यों एवं धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप उनके सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः गतिशीलता सामाजिक सम्बन्धों की एक प्रमुख विशेषता है। समाज में व्यक्ति परस्पर सामाजिक अन्तर्क्रिया के द्वारा वह अपने उद्देश्यों को पूरा करते हैं तथा इसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए परस्पर अन्तर्क्रिया द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जिसमें सहयोग तथा संघर्ष दोनों प्रक्रियाएं समान रूप से पायी जाती हैं। कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समाज को विभिन्न अर्थों में परिभाषित किया है :

गिडिंग्स के अनुसार “समाज स्वयं संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।”

रयूटर के अनुसार “समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की (जटिलता) सम्पूर्णता का बोध कराती है।”

मैकाइवर और पेज ने समाज को परिभाषित करते हुए कहा है “समाज रीतियों, कार्य-विधियों, अधिकार और पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और सदैव परिवर्तित होता रहता है।”

राइट का कथन है, “समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है। यह समूह के सदस्यों के बीच स्थापित सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।”

किंग्सले डेविस ने समाज निर्माण के मूलभूत तत्व को परिभाषित करते हुए समाज के सम्बन्ध में कहा है कि “यह ध्यान रखने योग्य है कि केवल सामाजिक सम्बन्धों का ढेर ही समाज नहीं होता, जब सामाजिक

सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है, तभी हम उसे समाज कहते हैं।" ठीक वैसे ही जैसे ईट, गारा, सीमेंट या चूने के ढेर को मकान नहीं कह सकते। मकान तो वह तभी कहलायेगा जब वे सभी तत्व एक-दूसरे के साथ एक निश्चित प्रतिमान में जुड़ जाएंगे। इसी प्रकार समाज भी सामाजिक सम्बन्धों की एक सूची या संग्रह नहीं है, वरन् सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन में कुछ भिन्नता स्पष्ट होती है परन्तु मूल रूप से सभी परिभाषाएँ एक ही विशेषता को दर्शाती हैं कि समाज का वास्तविक आधार सामाजिक सम्बन्ध है। इसी परिप्रेक्ष्य में मैकाइवर ने '**समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल**' कहकर समाज की सम्पूर्ण अवधारणा की व्याख्या एक वाक्य में स्पष्ट कर दी है। इसके साथ ही इन्होंने समाज के उन महत्वपूर्ण तत्वों तथा आधारों का उल्लेख भी किया है जिनकी सहायता से सामाजिक सम्बन्ध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण कर समाज की सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। मैकाइवर ने अपनी परिभाषा में समाज के कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण तत्वों पर प्रकाश डाला है।

(1) चलन अथवा रीतियाँ

ये चलन अथवा रीतियाँ समाज द्वारा स्वीकृत वह कार्य पद्धतियाँ हैं जिन्हें समाज द्वारा व्यवहार के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक समाज के सदस्यों में अपने कार्य करने की कुछ पृथक रीतियाँ होती हैं, जैसे खान-पान की रीति, धार्मिक कार्यों तथा संस्कारों को पूरा करने की रीति, सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्यों को पूरा करने की रीति आदि। समाज के सदस्यों के दैनिक जीवन में इन रीतियों तथा प्रथाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। रीतियाँ समाज के सामाजिक संगठन की स्थापना में सहायक होती हैं तथा इनके द्वारा समाज में आने वाली भावी पीढ़ी के व्यवहारों को निश्चित प्रतिमान प्राप्त होते हैं।

(2) कार्य प्रणालियाँ

प्रत्येक समाज के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कुछ विशेष प्रणालियाँ होती हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने उद्देश्यों को पूरा करता है। मैकाइवर के अनुसार इन कार्य-प्रणालियों का अर्थ व्यवहार के नियमों अथवा संस्थाओं से है। जिनके द्वारा व्यक्ति नियमबद्ध रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर समाज को विशेष स्थान प्रदान कर संस्कृति के विकास को प्रोत्साहित करता है।

(3) प्रभुत्व या अधिकार-सत्ता

समाज में व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करने तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए समाज में कुछ व्यक्ति के पास अधिकार सत्ता या शक्ति होनी आवश्यक है, जिससे वह समाज में मनमाने व्यवहारों के आचरण को नियन्त्रित कर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित कर सके। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग अधिकार प्राप्त व्यक्ति होते हैं। जैसे राज्य में राजा, परिवार में

पिता, विश्वविद्यालय में कुलपति, दफ्तर में बॉस (ठवे), राष्ट्र में राष्ट्रपति, पंचायत में सरपंच आदि ऐसे अधिकार प्राप्त व्यक्ति होते हैं जो इन संस्थाओं के अन्य सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं। इन अधिकारों की प्रकृति अलग-अलग होती है, कुछ अधिकार राज्य प्रदत्त होते हैं, जैसे राष्ट्रपति, जज व कलेक्टर आदि तथा कुछ परम्परा के द्वारा जैसे- पिता, मुखिया आदि तथा कुछ अधिकार व्यक्ति को उसकी अद्भुत क्षमता के द्वारा प्राप्त होते हैं, जैसे सन्त, जादूगर, धार्मिक नेता आदि। यह अधिकार समाज की सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाए रखने में सहायक होते हैं।

(4) पारस्परिक सहयोग

समाज में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता, इसके लिए उसे अन्य व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। एक-दूसरे पर निर्भरता के द्वारा उनमें सहयोग की प्रवृत्ति का विकास होता है जिससे उनमें सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है जो समाज के निर्माण के लिए आधारभूत तथ्य है।

(5) सामाजिक विभाजन

प्रत्येक समाज अनेक छोटी-छोटी इकाइयों तथा ढाँचों से मिलकर बना होता है। मैकाइवर के अनुसार यह इकाइयाँ तथा संगठन, जैसे परिवार, पड़ोस, गाँव, कस्बा, राज्य, समुदाय, संस्था तथा समिति आदि समाज के विभिन्न सामाजिक विभाग हैं। यह सभी विभाग एक-दूसरे को पूर्णतया प्रभावित कर सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों द्वारा समाज का रूप व्यवस्थित होता है।

(6) मानवीय व्यवहार पर नियन्त्रण

समाज की सामाजिक व्यवस्था को स्थिर बनाए रखने के लिए मानव व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है जिससे वह समाज में अव्यवस्था को जन्म न दे। समाज की व्यवस्था और संगठन को बनाए रखने के लिए समाज में प्रथाओं, परम्पराओं, धर्म तथा जनरीतियों आदि के आधार पर अनौपचारिक ढंग से तथा पुलिस, न्यायालय, प्रशासन तथा कानून आदि के आधार पर औपचारिक ढंग से नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

(7) स्वतन्त्रता

कोई भी सामाजिक व्यवस्था केवल नियन्त्रण मात्र से स्थिर नहीं रह सकती है। नियन्त्रण के साथ-साथ समाज की सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सदस्यों को कुछ स्वतन्त्रता प्रदान करना भी आवश्यक है, जिससे वह अपने कर्तव्यों का निर्वाह तथा अधिकारों का अनुभव कर सके। स्वतन्त्रता का

अनुभव करने पर व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों का विकास परिस्थितियों के अनुसार स्वयं करता है, जो समाज की सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होते हैं।

1.2.2 मानव तथा पशु समाज (Human and Animal Society)

संरचना की दृष्टि से मानव समाज पशु समाज के समान है। जिस प्रकार मानव समाज की रचना विभिन्न सदस्यों के योग से संगठित है उसी प्रकार पशु समाज में भी विभिन्न सदस्य होते हैं। प्रकृति के आधार पर इनकी संरचना के अनुसार समाज में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है इसी भिन्नता के आधार पर इनके कार्यों की प्रकृति अलग-अलग होती है। मानव समाज के सभी सदस्यों में उनकी आवश्यकताओं तथा क्षमताओं के आधार पर उनके कार्यों में श्रम-विभाजन का एक अत्यन्त विकसित अवसर पाया जाता है। मानव समाज की संस्कृति प्रत्येक सदस्य को विभिन्न प्रकार से कार्य करने के योग्य बनाती है। परन्तु पशु समाज में यह विशेषता नहीं होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में हॉबल के अनुसार “पशुओं के पास समाज होता है, संस्कृति नहीं।”

इसके अतिरिक्त मानव समाजों में सामाजिक संस्थाओं का विशेष महत्व होता है, इन्हीं संस्थाओं के माध्यम से मानव समाज अपने समाज के कार्यों को क्रियान्वित कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है। यह संस्थाएं संस्कृति की वाहक होती हैं। मानव समाज की संस्कृति व्यक्ति को समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समाज के योग्य बनाती है। मनुष्य का अधिकांश व्यवहार वंशागत न होकर सीखा हुआ होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक सीख द्वारा बाल्यकाल से ही मानव में मानवीय गुणों का विकास किया जाता है जो इसे पशु समाज से भिन्न बनाती है।

परन्तु पशुओं में भी समाज पाया जाता है। समाज के निर्माण में जिन मूलभूत आवश्यकताओं की अपेक्षा की जाती है तथा जिन्हें समूह द्वारा व्यवस्थित रूप से पूरा किया जाता है पशुओं में स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणस्वरूप चींटियों और वानरों में सामूहिक क्रियाओं को देखा जा सकता है वे सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं, इसी प्रकार हाथी, हाथियों के झुण्डों में, पक्षी पक्षियों आदि के झुण्डों में समूह में रहकर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। प्रत्येक समूह का मुखिया होता है जिसकी आज्ञा का सभी पालन करते हैं। इन समूहों में श्रम-विभाजन की विशेषता भी होती है। मधुमक्खियों में कार्य-विभाजन का स्पष्ट उदाहरण देखने को मिलता है। साथ ही साथ पशुओं में सहयोग और संघर्ष की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। पशुओं का व्यवहार प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है यह समाज द्वारा अर्जित नहीं होता है। पशु समाज सरल होता है। उसमें मानव समाज के समान जटिलता नहीं पायी जाती।

मानव समाज की सर्वोच्च धरोहर संस्कृति इसे पशुओं से श्रेष्ठ बनाती है डेविस के अनुसार “संस्कृति मानव के अस्तित्व के परिणाम में वृद्धि करती है और ऐसा मानव बनाती है, जिसके अभाव में वह पशु होता है।”

मानव समाज तथा पशु समाज में अन्तर (Difference between Human Society and Animal Society)

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में मानव तथा पशु दोनों की आन्तरिक तथा बाह्य आवश्यकताओं में समानता होती है। परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने की प्रणालियों तथा व्यवहारों में विभिन्नता पायी जाती है। यह भिन्नता मानव तथा पशु समाज को पृथक कर उनमें अन्तर को परिलक्षित करते हैं, जिसे निम्नलिखित आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है :

1. अधिक विकसित मस्तिष्क

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मानव को सर्वोपरि स्थान मिलने का मुख्य कारण उसका विकसित मस्तिष्क है। मानव की शारीरिक रचना में उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसका विकसित मस्तिष्क है जिसके द्वारा उसका व्यवहार तथा सुनने, समझने, सोचने आदि की क्रियायें संचालित होती हैं। मानव के विकसित मस्तिष्क ने एक विकसित संस्कृति का सृजन किया है।

2. भाषा का विकास

मानव तथा पशु दोनों में संचार की निश्चित क्षमता होती है। पशु अपनी शारीरिक अभिव्यक्ति या सांकेतिक भाषा के प्रयोग द्वारा (जैसे—बन्दर चिल्लाकर, चिड़िया चहक कर आदि) अन्तःक्रिया करते हैं, परन्तु मानव में विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बोलने की क्षमता अर्थात् स्पष्ट भाषा विकसित होती है। मानव भाषा के द्वारा अपनी बात या विचारों को दूसरों तक पहुँचाता है, यह क्षमता केवल मानव—समाज में ही पायी जाती है।

3. पैरों पर सीधा खड़े होने की क्षमता

मानव की शारीरिक बनावट की विशेषता होती है कि उसमें पैरों के बल पर सीधा खड़े होने की क्षमता होती है। पशुओं में यह विशेषता नहीं पायी जाती है। मनुष्य पैरों पर सीधा खड़ा होकर दोनों हाथों से आसानी से कार्य कर लेता है जो इसे पशुओं से भिन्न करती है।

4. हाथों का लचीलापन

मानव की शारीरिक बनावट के आधार पर उसके हाथ प्रत्येक कार्य के लिए स्वतन्त्र होते हैं, उनमें लचीलापन होता है जिन्हें घुमा-फिरा कर वह अनेक कार्य कर सकता है। हाथों के लचीलेपन तथा रचना के आधार पर उनमें पशुओं से पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। मानव ने अपने हाथों के अधिकाधिक उपयोग द्वारा सभ्यता के विकास में अप्रतिम योगदान दिया है।

5. व्यवहार

मानव का अधिकांश व्यवहार सीखा हुआ है। सामाजिक सीख मानव व्यवहार में अहम् भूमिका निभाती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यवहार तथा आचरण में परिवर्तन लाता है। जिन कार्यों को करने में उसे प्रशंसा तथा सहानुभूति प्राप्त होती है उसे वह अपने व्यवहार का अंग बना लेता है। पशुओं में यह क्षमता नहीं के बराबर या बहुत सीमित होती है। पशुओं का व्यवहार आनुवंशिकता से निर्धारित होता है।

6. शारीरिक और मानसिक क्षमता

समाज में मानव की स्थिति का निर्धारण उसकी योग्यता, कार्य-कुशलता, बुद्धि तथा क्षमता के आधार पर होता है। मानव बुद्धि बल में प्रबल होते हैं, जबकि पशु समाज के सदस्य शारीरिक बल में अपनी समानता नहीं रखते। एक हाथी सैकड़ों व्यक्तियों के बल से अधिक बलशाली होता है। मानव बुद्धि बल से इन शक्तिशाली पशुओं को नियंत्रित कर लेते हैं। अतः मानव अपनी बुद्धि तथा योग्यता के आधार पर पशुओं से श्रेष्ठ है।

7. सामाजिक जागरूकता

मानव समाज के सदस्य परस्पर अधिक जागरूक होते हैं। यही जागरूकता उनमें सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती है। व्यक्ति संवेदनशील होने के कारण अन्य सदस्यों के साथ सम्बन्ध बनाने में जागरूक रहता है। पशु समाज के सदस्यों में सामाजिक जागरूकता सीमित होती है। मैकाइवर और पेज के अनुसार¹¹ “पशुओं में जागरूकता कम होती है, अतः उनके सामाजिक सम्बन्ध भी अधिक क्षणिक होते हैं।”

8. सामाजिक जीवन में जटिलता और परिवर्तन

मानव समाज में सामाजिक सम्बन्धों में अधिक जटिलता पायी जाती है। एक ही व्यक्ति के समाज में अनेक पद, कार्य और भूमिकाएं होती हैं, जबकि पशु समाज में सम्बन्ध इतने जटिल नहीं होते हैं। साथ ही मानव समाज में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सदा एक ही प्रकार की सामाजिक जीवन की विशेषताएं नहीं पायी जाती हैं, उनमें परिवर्तन होता ही रहता है। प्रारम्भिक युग से आधुनिक युग में व्यक्ति के

रहन-सहन, खाने-पीने तथा पहनावे में अत्यधिक परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है। पशु समाज में यह परिवर्तन नहीं होते हैं।

9. श्रम विभाजन

मानव समाज में श्रम-विभाजन का उच्चतम स्तर पाया जाता है, इनके कार्यों का स्पष्ट विभाजन होता है। यह श्रम-विभाजन प्राकृतिक होने के साथ-साथ मानवकृत भी है। पशु-समाज में श्रम-विभाजन नैसर्गिक है। अतः यह प्राथमिक स्तर का होता है।

10. संस्कृति का हस्तांतरण

प्रकृति ने मानव को भरपूर सांस्कृतिक धरोहर दी है। वह भौतिक तथा अभौतिक दोनों संस्कृतियों का स्वामी है। मानव समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संस्कृति का संक्रमण होता है। जो व्यक्तित्व एवं सामाजिक विकास में सहायक होता है। भाषा तथा लिपि के द्वारा संस्कृति के विकास में सहायता मिलती है। पशु समाज में संस्कृति नहीं पायी जाती है, इनका व्यवहार वंशानुगत होता है।

11. सामाजिक व्यवस्था

मानव समाज का निर्माण करने वाले सभी तत्व एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यात्मक रूप से एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करते हुए ऐसी व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जिसमें विभिन्न संस्थाएँ अपने उद्देश्यों के अनुसार कार्य करके व्यक्ति की अन्तःक्रियाओं को नियमित करती है। पशु समाज में सामाजिक व्यवस्था नहीं पाई जाती है।

12. सामाजिक नियन्त्रण

मानव समाज में सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के सुव्यवस्थित नियम तथा उपकरण उपलब्ध है। यह कार्य समाज, प्रथा-परम्पराओं, संस्थाओं, नियमों तथा कानूनों के द्वारा औपचारिक तथा अनौपचारिक साधनों के प्रयोग द्वारा किया जाता है। पशु समाज स्वच्छन्द होता है वहाँ किसी प्रकार का नियन्त्रण किसी व्यवस्था के माध्यम से नहीं होता है।

13. नैतिक मूल्य

मानव समाज के सदस्यों का व्यवहार नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। इनके विचार तथा व्यवहार उचित तथा अनुचित के निर्धारण द्वारा भावनाओं में बँधे होते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों के अनुरूप चलता है। पशु समाज में नैतिकता का कोई स्थान नहीं होता है। उनका प्रत्येक कार्य स्वच्छन्द होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मानव समाज और पशु समाज में मूलभूत अन्तर पाये जाते हैं। मानव समाज परिवर्तनशील और जटिल है, जबकि पशु समाज स्थिर और सरल है। मानव समाज और पशु समाज का मूलभूत अन्तर संस्कृति है। संस्कृतिविहीन मानव समाज पशु समाज का ही अंग होगा।

डेविस मानव समाज और पशु समाज के अन्तर को स्पष्ट करने में संस्कृति को प्रमुख आधार मानते हैं। संस्कृति ने मानव समाज को धर्म, भाषा, साहित्य, विज्ञान, प्रथाएँ, दर्शन, रीति-रिवाज, मूल्य और आदर्श प्रदान किये हैं जबकि पशु समाज इन गुणों से बिल्कुल वंचित है। डेविस के अनुसार पशु समाज जैविक-सामाजिक व्यवस्था (टपवै.वबपंसैलेजमउ) है, जबकि मानव समाज सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था (Socio -Culture System) है।

कोहलर ने वानर समाज का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि इस समाज में मानव समाज की भाँति प्रेम, घृणा, सहयोग, सहानुभूति, मैत्री, ईर्ष्या, सुख और दुख की अनुभूतियाँ पायी जाती हैं। वास्तव में मानव का विकास नर वानर से ही हुआ था। टायलर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संस्कृति एक जटिल समग्र है, जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सीखता है। वास्तव में संस्कृतिविहीन मनुष्य बिना पूँछ का पशु ही है।

1.3 सारांश (Summary)

व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं समाज का निर्माण सामाजिक संबंधों के आधार पर होता है। मानव एवं पशु समाज में मुख्य अन्तर यह होता है कि मानव समाज सभ्य एवं सुस्कृत होता है तथा आपसी विचारों का आदान-प्रदान संप्रेषण के माध्यम से करता है जबकि पशु समाज की कोई अपनी संस्कृति नहीं होती है।

1.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. समाज क्या है? मानव एवं पशु समाज से आप क्या समझते हैं।
2. समाज को परिभाषित करते हुए मानव समाज के बारे में बताइये।
3. मानव तथा पशु समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

1.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. MacIver and Page, Society.

2. Society is the union itself, the organisation; the sum of formal relations in which associating individuals are bound together." Giddings, Principle of Sociology, The Mac Millan Co., New York, 1913.
3. "Society is a web of social relationship."- MacIver and Page, Society.
4. "Society is Co-operation crossed by conflict." MacIver and Page
5. "An animal have society, not culture". -E.A. Hoabel, Man is the Primitive World.
6. "Kingslay Davis, Human Society.
7. A. W. Green, sociology.

सामाजिक व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य (Objectives)
- 2.1 प्रस्तावना (Preface)
- 2.2 व्यवस्था (System)
- 2.3 सामाजिक व्यवस्था (Social System)
- 2.4 सारांश (Summary)
- 2.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- व्यवस्था के अर्थ एवं प्रकार को जान सकेंगे।
- सामाजिक व्यवस्था का अर्थ, विशेषतायें एवं आवश्यक तत्वों को सकेंगे।
- सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त एवं स्तर को जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में व्यवस्था का अर्थ एवं प्रकार, सामाजिक व्यवस्था का अर्थ, विशेषतायें, आवश्यक तत्व, सिद्धान्त एवं स्तर के बारे में बताया गया है। समाज के नियमों तौर-तरीकों तथा प्रणालियों के व्यवस्थित क्रम को ही सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। सामाजिक व्यवस्था के द्वारा सम्पूर्ण समाज को चलाने का प्रयास किया जाता है तथा उनके बीच साम्य स्थापित करने का भी प्रयास किया जाता है।

2.2 व्यवस्था (System)

अर्थ (Meaning)

व्यवस्था का अर्थ उस क्रमबद्धता से है जो किसी संरचना की विभिन्न इकाइयों को कार्यात्मकता के आधार पर संगठित कर एक दूसरे को क्रियाशीलता व गतिशीलता प्रदान करती हैं। व्यवस्था की अवधारणा स्थिर नहीं है। इसमें गतिशीलता व परिवर्तनशीलता का गुण होता है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की सामाजिक व्यवस्था में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।

प्रकार (Types)

सामान्य रूप से व्यवस्था को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

(1) यान्त्रिक व्यवस्था

यान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न भौतिक सम्बद्ध तत्व या संघटक एक दूसरे से प्रकार्यात्मक क्रमबद्धता के आधार पर होते हैं और मिलकर एक व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसे यान्त्रिक व्यवस्था कहते हैं। जैसे किसी मशीन में विभिन्न पुर्जों का एक दूसरे से व्यवस्थित रूप में सम्बद्ध होना यान्त्रिक व्यवस्था का उदाहरण है।

(2) प्राकृतिक व्यवस्था

प्राकृतिक व्यवस्था कृत्रिम तथा मानव निर्मित व्यवस्था नहीं होती है। यह स्वतः प्राकृतिक साधनों द्वारा उत्पन्न व्यवस्था होती है।

(3) मानव-निर्मित व्यवस्था

यह व्यवस्था मानव द्वारा निर्मित व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था के निर्माण में मानवीय क्रियाओं का विशेष योगदान होता है। इसे तीन उपभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) व्यक्तित्व व्यवस्था

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज द्वारा परस्पर अन्तर्क्रियाओं से होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के अन्तर्गत इसके शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा सामाजिक गुण निहित होते हैं। जिसके द्वारा समाज के अन्य सदस्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं।

(2) सांस्कृतिक व्यवस्था

संस्कृति मानव-क्रियाओं की जटिल व्यवस्था है। इसमें भौतिक तथा अभौतिक तत्वों का समावेश होता है। धर्म, विश्वास, प्रथा, परम्परा आदि अभौतिक संस्कृति के रूप हैं।

(3) सामाजिक व्यवस्था

समाज की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप होता है। समाज में व्यक्ति का व्यवहार समाज के मूल्यों, नियमों, परम्पराओं रीति-रिवाजों, अधिकारों तथा कर्तव्यों आदि से प्रभावित होता है। जो समाज की सामाजिक व्यवस्था को प्रदर्शित करते हैं।

2.3 सामाजिक व्यवस्था (Social System)

अर्थ (Meaning)

सामाजिक व्यवस्था का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न निर्माणक इकाईयाँ एक-दूसरे से प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के आधार पर एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक ऐसी उचित सन्तुलित स्थिति का निर्माण करती हैं जिसमें विभिन्न संस्थाएँ अपने उद्देश्यों के अनुरूप कार्य करके व्यक्तियों की सामाजिक अन्तर्क्रियाओं तथा व्यवहारों को नियमित कर सकें। यदि समाज की प्रत्येक इकाई को मनमाने ढंग से कार्य करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाए तो समाज की संरचना अव्यवस्थित हो जाएगी।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है:

मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में कहा है “समाज स्वयं एक व्यवस्था है। यह प्रचलनों, कार्यविधियों, प्रभुत्व, पारस्परिक सहयोग तथा विभिन्न समूहों और श्रेणियों व मानव व्यवहारों के नियन्त्रणों एवं स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है।”

मैक्सवेबर ने प्रतिष्ठा को सामाजिक व्यवस्था का आधार मानते हुए कहा है “वह विधि जिसके द्वारा समाज में भाग लेने वाले विशिष्ट समूहों में सामाजिक व्यवस्था का वितरण किया जाता है, उसे सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।”

विशेषताएँ (Characteristics)

सामाजिक व्यवस्था की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :

1. सामाजिक व्यवस्था आपस में अन्तर्क्रिया करने वाले एकाधिक वैयक्तिक कर्ताओं से सम्बन्धित है।
2. इसके अन्तर्गत एकाधिक व्यक्ति आपस में जब परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं तो उनकी अन्तर्क्रिया जिस व्यवस्था को उत्पन्न करती है उसे सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के लिए अनेक व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया आवश्यक है।
3. अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप निश्चित सामाजिक सम्बन्धों का होना सामाजिक व्यवस्था में अनिवार्य है।
4. सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के विभिन्न निर्माणात्मक तत्वों में परस्पर एक अपूर्ण क्रमबद्धता तथा अन्तर्सम्बन्ध स्पष्टतः उपस्थित हो जिसके फलस्वरूप यह विभिन्न तत्व एकता में परिवर्तित हो जाए।

5. सामाजिक व्यवस्था का एक प्रकार्यात्मक पक्ष होता है। सामाजिक व्यवस्था कोई जड़ व्यवस्था नहीं है, वह एक क्रियाशील तत्व है जिसके द्वारा समाज व व्यक्ति के कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति इसके द्वारा सम्भव होती है।
6. सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक व्यवस्था से भी सम्बन्धित होती है।
7. सामाजिक व्यवस्था का एक भौतिक या पर्यावरणीय सम्बन्धी पहलू होता है।
8. सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन का गुण होता है। समाज में सदस्यों की आवश्यकताओं में परिवर्तन के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है।
9. सामाजिक व्यवस्था में समाज के सदस्यों के स्वीकृत तथा अन्तर्निहित उद्देश्य भी होते हैं।
10. सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों में क्रमबद्धता तथा सन्तुलन पाया जाता है।
11. मानवीय आवश्यकताओं तथा पर्यावरणीय सम्बन्धी परिणामों के कारण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता रहता है।

आवश्यक तत्व (Essential Elements)

चार्ल्स लूमिस के अनुसार, सामाजिक व्यवस्था के लिए उन प्रक्रियाओं का अध्ययन आवश्यक है जो समाज की आन्तरिक स्थिति से सम्बन्धित हैं। यह प्रक्रियाएं ही समाज की सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्व हैं। लूमिस ने समाज की सामाजिक व्यवस्था के लिए नौ आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं :

(1) विश्वास और ज्ञान

विश्वास तथा ज्ञान मानव समाज में नियन्त्रण स्थापित कर मानव व्यवहार में एकरूपता लाने का प्रयास करते हैं। किसी भी समाज में विश्वास उसकी प्रचलित प्रथाओं तथा आस्थाओं का परिणाम है।

(2) भावनाएँ

व्यक्ति में भावनाओं का विकास प्रत्यात्मक स्तर पर होता है। सामाजिक व्यवस्था में भावनाओं का विशेष महत्व होता है। गिन्सबर्ग के अनुसार समूह की भावनाओं के आधार पर विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का विकास होता है।

(3) आवश्यकताएँ, लक्ष्य एवं उद्देश्य

समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं, उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे से परस्पर अन्तर्क्रियाओं द्वारा अन्तर्सम्बन्धों को स्थापित करता है।

(4) आदर्श नियम

प्रत्येक समाज की सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण बनाए रखने के लिए उस समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श-नियमों की व्यवस्था की जाती है।

(5) प्रस्थिति

व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके जन्मगत रूप में तथा अर्जित रूप में समाज के द्वारा प्राप्त होता है। प्रस्थिति के साथ समाज में प्रतिष्ठा, सुविधा, शक्ति तथा अधिकार तत्वों आदि का समावेश होता है।

(6) भूमिका

प्रस्थिति के समान ही प्रत्येक समाज में व्यक्ति की भूमिका की एक निश्चित व्यवस्था होती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ एक निश्चित भूमिका का सम्बन्ध होता है। भूमिका द्वारा प्रस्थिति की बाह्य स्थिति अभिव्यक्त होती है। समाज में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुसार ही अपनी भूमिका निर्वहन करता है।

(7) शक्ति

सामाजिक व्यवस्था विभिन्न इकाइयों के अन्तर्क्रियात्मक योग से बनी एक अखण्ड व्यवस्था है। इन इकाइयों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने तथा इनके मध्य किसी प्रकार की संघर्ष या तनाव की स्थिति उत्पन्न न हो इसके लिए प्रत्येक समाज में शक्ति की व्यवस्था होती है।

(8) मान्यताएँ

समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताएँ अथवा सामाजिक मूल्य व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। ये व्यक्ति के कार्यों में उचित तथा अनुचित का भेद करती हैं। समाज के मूल्यों तथा आदर्शों से प्रभावित उचित कार्यों को करने के लिए समाज मान्यता देता है।

(9) सुविधाएँ

समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं से व्यक्ति को अपने सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा मिलती है। सुविधाओं की उपलब्धि से प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था अपने दायित्वों का उचित निर्वहन करती है।

सिद्धान्त (Theory)

कॉम्ट का सिद्धान्त

कॉम्ट के अनुसार सामाजिक व्यवस्था वास्तव में वह स्थिति है जब इसके विभिन्न भागों तथा सम्पूर्ण व्यवस्था में एक स्वाभाविक सामंजस्य बना रहता है तथा इसके तत्व एक प्रतिरूप में संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार कॉम्ट के अनुसार सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक सावयव (वबपंस वतहंदपेउ) है परन्तु इन दोनों सावयवों में समानता अवश्य पायी जाती है। सामाजिक सावयव में वैयक्तिक सावयव के समान श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण होता है। कॉम्ट के अनुसार जब समाज में विभिन्न सदस्यों का बौद्धिक स्तर समान नहीं होता है, समाज की सामाजिक व्यवस्थाओं में विघटन तथा असन्तुलन की स्थिति देखने को मिलती है जिसका मुख्य कारण बौद्धिक अराजकता है। किसी समाज की सामाजिक व्यवस्था की पूर्णतया और स्थायित्व समाज की भौतिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा नैतिक शक्ति के उचित सामंजस्य पर ही निर्भर करती है। भौतिक शक्ति क्रिया और कार्य पर आधारित होती है, जबकि बौद्धिक शक्ति चिन्तन पर तथा नैतिक शक्ति स्नेह और सेवा पर आधारित होती है।

दुर्खीम का सिद्धान्त

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'Social Division of Labour' के प्रथम भाग में सामाजिक व्यवस्था का वर्णन किया है। इनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था से क्रमशः सावयवी सामाजिक व्यवस्था की ओर होता है। इस प्रकार दुर्खीम के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के दो विभिन्न रूप हैं:—

(1) यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में विलीन हो जाता है अर्थात् व्यक्ति की अपेक्षा समूह का अधिक महत्व होता है। सामाजिक सम्बन्ध समानता तथा एकरूपता पर आधारित होते हैं। व्यक्ति पर समूह का प्रभाव अधिक होने के कारण लोगों के व्यवहारों को जनमत, परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों के द्वारा नियन्त्रित रखा जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत लोग यन्त्रवत तरीके से सोचते, कार्य करते तथा समूह के आदेशों का पालन करते हैं। उनकी कोई भी इच्छा, प्रेरणा अथवा क्रिया समूह से अलग नहीं होती है। व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में इतना घुल-मिल जाता है कि उसके अपने व्यक्तित्व का अस्तित्व तक मिट जाता है। आदिकालीन व्यक्तित्व सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप यांत्रिक था।

(2) सावयवी सामाजिक व्यवस्था

जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ उक्त परिस्थितियाँ भी परिवर्तित हो गईं। समाज के आकार में वृद्धि के साथ-साथ लोगों की आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगीं। इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि आवश्यक हो गयी। श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण द्वारा लोग अपनी बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे। जिससे व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था प्रभावित होने लगी। श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण के कारण व्यक्ति का महत्व बढ़ गया। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए एक-दूसरे पर अधिक निर्भर रहने लगे। श्रम विभाजन होने पर भी एकता या सहयोग की आवश्यकता होती है। श्रम विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार का कार्य करता है जबकि उसे अनेक प्रकार की सेवाओं तथा वस्तुओं की आवश्यकता होती है। ये आवश्यकता व्यक्ति को एक सूत्र में बाँध कर सहयोग को बढ़ावा देती है। समाज की इस सामाजिक व्यवस्था को दुर्खीम ने 'सावयवी सामाजिक व्यवस्था' कहा। आज के जटिल औद्योगिक समाजों में सावयवी सामाजिक व्यवस्था पायी जाती है। इस व्यवस्था में व्यक्तिवाद की प्रधानता होती है। परन्तु व्यक्ति अपने अधिकारों का उपयोग एक निश्चित सीमा में समाज के मूल्यों, नियमों तथा कानून के दायरे में रहकर करता है। सावयवी व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवहारों पर कानूनों द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है।

इस प्रकार दुर्खीम के अनुसार धीरे-धीरे परिस्थिति में परिवर्तन के साथ यांत्रिक व्यवस्था का रूप बदलकर आधुनिक समाज में सावयवी व्यवस्था के रूप में स्पष्ट हो गया है।

परेटो का सिद्धान्त

परेटो के अनुसार समाज एक सामाजिक व्यवस्था है। यह सामाजिक व्यवस्था सामाजिक सन्तुलन के अन्तर्गत कार्य करती है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का आधार सामाजिक सन्तुलन है। सामाजिक सन्तुलन वह अवस्था है जिसमें समाज को विघटित करने वाली तथा समाज को संगठित करने वाली शक्तियां परस्पर एक संतुलित स्तर पर रहती हैं। समाज में दोनों विरोधी शक्तियां सदैव विद्यमान तथा क्रियाशील रहती हैं। इनमें समाज को संगठित करने वाली शक्ति सभी इकाइयों तथा तत्वों को एकजुट कर संगठित करने में सहायक होती हैं तथा दूसरी विरोधी शक्ति सामाजिक इकाइयों को विघटित कर समाज में विघटन की स्थिति को प्रभावी करती हैं। यह दोनों शक्तियां सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक अंग हैं। परन्तु यह सामाजिक व्यवस्था तभी विकसित हो सकती है, स्थिर रह सकती है तथा कार्य कर सकती है जब समाज को संगठित और विघटित करने वाली दोनों विरोधी शक्तियां आपस में सन्तुलित स्तर पर हो एक शक्ति का प्रभाव इतना अधिक हो कि दूसरी शक्ति पूर्णतया दब जाए। इन शक्तियों के मध्य सामंजस्य सामाजिक सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करता है। विलफ्रेड परेटो के अनुसार सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार उत्पन्न सामाजिक सन्तुलन की ही अवस्था है।

मैक्स वेबर का सिद्धान्त

मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा 'शक्ति' या 'सत्ता' पर आधारित होती है। प्रत्येक समाज में विभिन्न समूहों तथा उसके सदस्यों के मध्य जो सम्बन्ध स्थापित होता है उनका मुख्य आधार समाज में पायी जाने वाली शक्ति है। वेबर के अनुसार शक्ति का तात्पर्य "उस अवसर से है जिसको कि एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति किसी सामूहिक क्रिया में अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उस क्रिया में भाग लेने वाले दूसरे व्यक्तियों द्वारा विरोध करने पर भी प्राप्त कर लेते हैं।" इन शक्तियों या अवसरों के आधार पर ही व्यक्ति समाज में एक निश्चित प्रस्थिति प्राप्त करता है। परन्तु विभिन्न आधारों पर प्राप्त शक्तियों में अन्तर होता है। जैसे आर्थिक आधार पर प्राप्त शक्ति और साधारण शक्ति में अन्तर है। आर्थिक शक्ति न केवल आर्थिक क्षेत्र में ही हमें प्रतिष्ठित करती है वरन् सामाजिक प्रतिष्ठता भी प्रदान करती है। केवल आर्थिक शक्ति के आधार पर ही व्यक्ति समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता है, उसके लिए अनेक अन्य गुणों या शक्तियों की आवश्यकता होती है। जो सामाजिक-राजनैतिक तथा आर्थिक शक्ति का आधार हो सकती है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा किसी भी कारण से प्राप्त हो, सामाजिक व्यवस्था को निश्चित करने में महत्वपूर्ण है। मैक्स वेबर के अनुसार "जिस ढंग से सामाजिक प्रतिष्ठा किसी समुदाय के विशिष्ट समूहों में बँटी होती है, उसी को हम सामाजिक व्यवस्था कह सकते हैं।"

सोरोकिन का सिद्धान्त

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक व्यवस्था एक विशेष प्रकार की सांस्कृतिक व्यवस्था होती है। यह सांस्कृतिक व्यवस्था तीन प्रकार की होती है :

- (1) चेतनात्मक

(2) भावनात्मक तथा

(3) आदर्शात्मक

चेतनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के सदस्यों की प्रस्थिति तथा कार्य भौतिक सुख साधनों या विशेषकर धन, सम्पत्ति से सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक जीवन का उद्देश्य भौतिक सुख के साधनों में वृद्धि करना होता है। सामाजिक शक्ति उन्हीं के हाथ में होती है जो भौतिक सम्पत्ति के अधिकारी हैं। धर्म, न्याय, परम्पराएँ, प्रथाओं तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया व सम्बन्धों का क्षेत्र सीमित होता है। इसके विपरीत भावनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था में आध्यात्मिक विषयों पर अधिक महत्व होता है। जीवन का आदर्श भौतिक सुख की प्राप्ति नहीं, वरन् आध्यात्म की खोज है। आदर्शात्मक संस्कृति से सम्बन्धित समाज व्यवस्था में उपरोक्त दोनों प्रकार की विशेषताओं का समावेश होता है। जब कोई सामाजिक व्यवस्था चेतनात्मक स्तर से भावनात्मक स्तर या भावनात्मक स्तर से चेतनात्मक स्तर को जाती है तो कुछ समय के लिए आदर्शात्मक व्यवस्था उत्पन्न हो जाती हैं। सोरोकिन के अनुसार भावनात्मक तथा चेतनात्मक सामाजिक व्यवस्थाएँ दो चरम अवस्थाएँ हैं। इस कारण इन्हें उचित नहीं माना जा सकता। इनके मध्य एक सन्तुलित व्यवस्था होनी चाहिए जो दोनों चरम अवस्थाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सके।

सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्धित होती है। इस कारण सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन होने से सामाजिक व्यवस्था भी परिवर्तित हो जाती है। यह परिवर्तन 'स्वाभाविक परिवर्तन के सिद्धान्त' पर आधारित होता है। अतः सामाजिक व्यवस्था कोई स्थिर या कृत्रिम व्यवस्था नहीं है यह स्वाभाविक नियम से परिवर्तित होती हैं।

पारसन्स का सिद्धान्त

टालकॉट पारसन्स ने अपनी पुस्तक 'The Social System' में सामाजिक व्यवस्था का वर्णन किया है। पारसन्स के अनुसार "सामाजिक व्यवस्था तब उत्पन्न होती है जबकि एक सामाजिक परिस्थिति में (जिसका कि एक भौतिक पक्ष हो) तथा सामान्य रूप में स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की एक व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक वैयक्तिक कर्ता अपनी इच्छाओं की आदर्श प्राप्ति के लिए परस्पर सामाजिक अन्तर्क्रिया में लगे होते हैं।" सामाजिक व्यवस्था का निर्माण परस्पर व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाओं द्वारा होता है। पारसन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के कुछ प्रमुख तत्व निम्न हैं— वैयक्तिक कर्ता, अन्तर्क्रियात्मक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक प्रतिमान की एक व्यवस्था। अन्तर्क्रियात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत इन तीन तत्वों का समावेश होता है। ये तीनों तत्व परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें से एक भी तत्व के न होने पर सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अधूरी रह जाएगी। पारसन्स के अनुसार "सामाजिक व्यवस्था आवश्यक रूप में अन्तर्क्रियात्मक सम्बन्धों का जाल है।" "पारस्परिक सम्बन्धों के अन्तर्गत दो पहलू महत्वपूर्ण हैं— इसके अन्तर्गत प्रथम यह कि सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार संरचित नहीं हो सकती कि उसके अन्तर्गत

प्राणीशास्त्रीय सावयवों या सामाजिक व्यक्तियों के रूप में वैयक्तिक कर्ता या सांस्कृतिक व्यवस्था अपने-अपने कार्य को उचित ढंग से न कर सकें। द्वितीयक सामाजिक व्यवस्था स्वयं ही अन्य दो व्यवस्थाओं (अन्तर्क्रियात्मक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था) से प्राप्त आवश्यक सहयोग या सहायता पर निर्भर है।" सामाजिक व्यवस्था तब तक पनप नहीं सकती जब तक कि वैयक्तिक कर्ताओं को उनके पद के अनुसार कार्य करने के लिए पर्याप्त मात्रा में इस भांति प्रेरित न किया जाए कि सकारात्मक रूप में वे उन आशाओं को पूरा करे जो आशाएं उनसे दूसरे लोग या समाज करता है और नकारात्मक रूप में वे अपने को अत्यधिक भ्रष्ट व विनाशकारी प्रवृत्तियों या समाज-विरोधी व्यवहारों अथवा आचरण से दूर रखें।" इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सांस्कृतिक व्यवस्था भी इस प्रकार की न हो कि समाज विरोधी कार्यो को प्रोत्साहन मिले। यदि संस्कृति को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन माना जाए, तो सांस्कृतिक व्यवस्था इस भांति होनी चाहिए कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं बनी रहें। पारसन्स ने लिखा है कि सामाजिक व्यवस्थाओं और व्यक्तियों के मध्य कोई साधारण सम्बन्ध नहीं होता। सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता के दृष्टिकोण से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इसके अन्तर्गत अंश ग्रहण करने वाले सभी कर्ताओं की आवश्यकताएं और न ही किसी एक कर्ता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है बल्कि अधिकतर कर्ताओं की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होती है। साधारणतया यह देखा गया है कि "कुछ सामाजिक शक्तियां कतिपय व्यक्तियों की और सभी लोगों की कुछ आवश्यकताओं को हानि पहुँचाने में उत्तरदायी होती हैं। अतः सम्भावनाओं को कम किया जा सकता है परन्तु व्यावहारिक रूप से उन्हें पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता है। जैसे कुछ लोगों के मरे बिना युद्ध में कदापि विजय प्राप्त नहीं की जा सकती और कभी-कभी एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप में एक सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व इसी शर्त पर निर्भर करता है कि युद्ध को स्वीकार कर लिया जाए।"

पारसन्स ने लिखा है कि विनाशकारी या समाज-विरोधी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिए सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक नियन्त्रण के एकाधिक साधन होते हैं। सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य समाज में अन्तर्क्रियाशील प्रतिक्रियाओं के बीच दृढ़ सन्तुलन को बनाए रखना है। पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण के आधारभूत साधन संस्थागत रूप में संगठित एक व्यवस्था की स्वाभाविक अन्तर्क्रिया में पाये जाते हैं।" इस परिप्रेक्ष्य से सामाजिक नियन्त्रण के साधन भी सामाजिक व्यवस्था का एक अंग हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्तियों के मध्य जो अन्तर्क्रिया होती है उसमें व्यक्तियों के विचार, भावनाएँ तथा मनोवृत्तियाँ अत्यधिक स्पष्ट तथा अधिकतर सदस्यों द्वारा मान्य होती हैं। ये सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं जिनके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण का कार्य भी होता है। ये सामाजिक संस्थाएं सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक एवं महत्वपूर्ण तत्व हैं। पारसन्स के अनुसार सामाजिक संस्थाओं का एक प्रमुख व प्राथमिक कार्य वैयक्तिक कर्ताओं द्वारा दी जाने वाली विविध क्रियाओं और उनके सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करने में सहायता करना है ताकि वे पर्याप्त समन्वित व्यवस्था का निर्माण करें जो कि कर्ता

को कार्य करने में सहायक हो और सामाजिक स्तर पर संघर्ष भी कम हो। ऐसी परिस्थिति में भी सामाजिक व्यवस्था स्वस्थ रूप में पनपती एवं विकसित होती रहती हैं।

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित तीन प्रकार की संस्थाओं का उल्लेख किया है— (1) सामाजिक व्यवस्था अन्तर्क्रियात्मक सम्बन्धों का एक जाल है। इस कारण इस अन्तर्क्रिया प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले पक्षों के प्रस्थिति तथा कार्यों द्वारा परिभाषित तथा उनके सम्बन्धों द्वारा निर्मित संस्थाओं को सर्वप्रमुख संस्थाएं माना जा सकता है। इस प्रथम श्रेणी की संस्थाओं को पारसन्स ने सम्बन्धात्मक संस्थाएं कहा है। द्वितीयक विशिष्ट कर्ता चाहे वह वैयक्तिक हो या सामूहिक, स्वार्थों के सन्दर्भ में क्रिया करता है। इन स्वार्थों का नियमन सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता की एक प्रमुख समस्या है। इस कार्य को करने वाली संस्थाओं को पारसन्स ने नियामक संस्थाएं कहा है तथा तीसरी, कुछ संस्थाएं इस प्रकार की भी होती हैं जिनकी अन्तर्वस्तु सांस्कृतिक प्रतिमान होती है, न कि कर्ताओं की बाह्य क्रियाएं। इन्हें सांस्कृतिक संस्थाएं कहा गया है इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक विभेदीकरण के अन्तर्गत पारसन्स ने प्रथम व द्वितीयक प्रकार की संस्थाओं के एक संयुक्त प्रारूप का भी उल्लेख किया है जिसे उन्होंने सम्बन्धात्मक तथा नियामक संस्थाएं कहा है।

स्तर (Stages)

किंग्सले डेविस ने सामाजिक व्यवस्था के स्तरों की विवेचना में तीन स्तरों का विशेष रूप से वर्णन किया है। सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए इन स्तरों का वर्णन इसलिए आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति की क्रियाएं एक समान नहीं होती हैं, वे प्रत्येक स्थान और परिस्थिति में परिवर्तित होती रहती हैं। एक समय में जो क्रिया साधन है वही दूसरी स्थिति में लक्ष्य बन सकती है अथवा पहले जो लक्ष्य है, वह बाद में साधन में परिवर्तित हो सकती है। कभी व्यक्ति के लक्ष्य अत्यन्त तार्किक तो कभी पूर्णतया विश्वासों पर आधारित होते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में इन स्तरों का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है।

प्राविधिक-आर्थिक एकीकरण का स्तर

किंग्सले डेविस ने सामाजिक व्यवस्था के प्रथम स्तर को प्राविधिक-आर्थिक एकीकरण का स्तर कहा है। इस स्तर पर समाज के लक्ष्यों तथा साधनों को दो प्रमुख आधारों पर वर्णन किया गया है : वैयक्तिक और सामाजिक आधार। वैयक्तिक आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने जीवन के लक्ष्य तथा कुछ उपलब्ध साधन होते हैं। इन्हीं उपलब्ध साधनों से वह अपने जीवन के अधिकतम लक्ष्यों की पूर्ति करने का प्रयास करता है। ये साधन ही प्रविधि होते हैं। इस प्रकार प्राविधिक एकीकरण का अर्थ उस परिस्थिति से है जिसमें व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तकनीकी रूप में सीमित साधनों का उपयोग करने का प्रयास करता है। डेविस के अनुसार, “पारिभाषिक रूप में प्रौद्योगिकी पूर्णतः साधनात्मक है। इसके अन्तर्गत सीमित साधनों को एक तात्कालिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए सम्भावित सबसे अधिक कुशल ढंग में प्रयोग में लाना सम्मिलित है, इसमें विभिन्न साध्यों के बीच में साधनों का कोई वितरण सम्मिलित नहीं है।” वहीं

सामाजिक आधार पर व्यक्ति समाज में उपलब्ध सीमित साधनों को इस प्रकार प्रयोग में लाता है जिसे अधिकतम सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सके। व्यक्ति अपने सीमित साधनों का प्रयोग उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए करता है जो तुलनात्मक रूप से उसके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार आर्थिक एकीकरण पूर्णतया तार्किक है जिसमें व्यक्ति सीमित साधनों से अधिकतम लक्ष्य को पूरा करने का प्रयत्न करता है।

वैधानिक-राजनीतिक व्यवस्था का स्तर

वैधानिक-राजनीतिक व्यवस्था स्वयं सामाजिक मूल्यों से निर्मित होती है और इन मूल्यों की रक्षा करना इसका प्रमुख उद्देश्य होता है। वैधानिक नियम मानव व्यवहार को नियन्त्रित करने से सम्बन्धित वे कानून हैं जिनका उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था तथा जिनको प्रतिपादित तथा लागू करने का अधिकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाओं पर होता है। इसके अन्तर्गत समाज विरोधी व्यवहारों को स्वीकृत नहीं किया जाता है। वैधानिक व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था एक दूसरे से सम्बन्धित होती है। राजनीतिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग के रूप में सामाजिक व्यवस्था क्रियाशील रहती है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक अधिकारीगण समाज द्वारा मान्य लक्ष्यों की पूर्ति विभिन्न साधनों द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं।

धार्मिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का स्तर

सामाजिक व्यवस्था मात्र प्रौद्योगिक, आर्थिक, वैधानिक तथा राजनीतिक व्यवस्था से ही पूर्ण नहीं हो जाती है, इसमें धार्मिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप भी निहित है। धर्म समाज के आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। दुर्खीम के अनुसार, “धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।”

2.4 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित सामाजिक विचारकों के सिद्धान्तों के बारे में भी बताया गया है। प्रस्तुत इकाई में सामाजिक व्यवस्था की मुख्य बातों को सरल, सूक्ष्म एवं प्रभावी तरीके से बताया गया है।

2.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. “सामाजिक व्यवस्था सामाजिक अन्तःक्रियाओं की व्यवस्था है।” व्याख्या कीजिए।
2. सामाजिक व्यवस्था से आप क्या समझते हैं इसके सिद्धान्तों के बारे में बताइये।
3. सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित कीजिए तथा इसके आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डालिए।
4. सामाजिक व्यवस्था से क्या समझते हैं। सामाजिक व्यवस्था के दुर्खीम के सिद्धान्त को बताइये।

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. MacIver and Page, Society.
2. Society is the union itself, the organisation; the sum of formal relations in which associating individuals are bound together." Giddings, Principle of Sociology, The Mac Millan Co., New York, 1913.
3. "Society is a web of social relationship."- MacIver and Page, Society.
4. "Society is Co-operation crossed by conflict." MacIver and Page
5. "An animal have society, not culture". -E.A. Hoabel, Man is the Primitive World.
6. "Kingslay Davis, Human Society.
7. A. W. Green, sociology.

सामाजिक प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य (Objectives)
- 3.1 प्रस्तावना (Preface)
- 3.2 सामाजिक प्रक्रिया (Social Processes)
- 3.3 सारांश (Summary)
- 3.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 3.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

3.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषा के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के स्वरूपों को जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ, परिभाषा, विशेषता एवं स्वरूप को बताया गया है। सामाजिक नियमों को चलाने वाली व्यवस्था या प्रणाली को ही सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं। सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा ही सामाजिक नियमों एवं आचार संहिता का निर्माण होता है।

3.2 सामाजिक प्रक्रिया (Social Processes)

एक अमूर्त व्यवस्था के रूप में समाज 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' है। इस जाल का आधार स्वयं समाज के सदस्य हैं। इन सदस्यों की अपनी आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ तथा उद्देश्य होते हैं। इन

आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित कर समाज की क्रियाशीलता में भाग लेते हैं तथा आवश्यक रूप से अन्तर्क्रिया करते हैं। इन अन्तर्क्रियाओं से इनके व्यवहारों में परिवर्तन उत्पन्न होने लगता है। इनमें कुछ परिवर्तन विरोध को जन्म देते हैं तथा कुछ सहयोग को दर्शाते हैं। विरोध उत्पन्न करने वाले परिवर्तनों से प्रतिस्पर्धा, प्रतिकूलता तथा संघर्ष जैसी प्रक्रियाएं उत्पन्न होती हैं तथा सहयोग को जन्म देने वाले परिवर्तनों से समायोजन, सात्मीकरण तथा एकीकरण में वृद्धि होती है। गोल्डनर के अनुसार, “अन्तर्क्रियाओं की कोई सीमा नहीं है। एक ही विषय पर विभिन्न व्यक्ति आपस में कड़ाई, नरमी, आदान-प्रदान, सहयोग, समागम, संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता, समझौता, मध्यस्थता, समायोजन, असहमति अथवा विद्वेष प्रदर्शित कर सकते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में उन्हीं व्यक्तियों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण अथवा शत्रुतापूर्ण, औपचारिक अथवा अनौपचारिक, सामाजिक दूरस्थ अथवा अधिनायकवादी हो सकते हैं”। यह अन्तर्क्रिया जब एक निरन्तर बने रहने वाली एक विशिष्ट परिणाम की ओर बढ़ती हुई घटना बन जाती है तो उसे सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा (Definition of social process)

समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए एक-दूसरे के मध्य अन्तर्क्रिया सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह अन्तर्क्रियाएँ कभी एक व्यक्ति और समूह को दूसरे व्यक्तियों और समूहों से जोड़ती हैं अथवा कभी उन्हें एक-दूसरे से पृथक करती हैं। अन्तर्क्रिया की इन विभिन्न परिस्थितियों को हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं। बिंसेज और बिंसेज का कथन है “अन्तर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।”

मैकाइवर और पेज के अनुसार “एक प्रक्रिया का अर्थ वह निरन्तर परिवर्तन है जो कि एक विशेष परिस्थिति में पहले से ही विद्यमान शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से होता है”।

गिलिन और गिलिन के अनुसार “सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तर्क्रिया करने के उन तरीकों से है, जिनको कि हम, जब व्यक्ति और समूह मिलते और सम्बन्ध की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब जीवन के विद्यमान तरीकों में परिवर्तन या विध्वन डालते हैं तो क्या होता है, देख सकते हैं।”

उपरोक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक प्रक्रिया वह घटना या परिवर्तन है जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन में निरन्तर बना रहता है और कुछ निश्चित परिणामों को उत्पन्न करता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों में होने वाला लगातार एवं निश्चित परिवर्तन ही सामाजिक प्रक्रिया है।

सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताएं (Characteristics of social process)

1. सामाजिक प्रक्रियाओं की एक निश्चित क्रमबद्ध श्रेणियाँ होती हैं।

2. सामाजिक प्रक्रियाएं परस्पर मानवीय अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।
3. सामाजिक प्रक्रिया में अन्तर्निहित घटनाओं की प्रकृति अलग-अलग हो सकती है, परन्तु उन घटनाओं में सम्बन्ध होना अत्यधिक आवश्यक होता है।
4. यह घटनाओं का वह क्रम है जो निरन्तर बना रहता है और एक विशिष्ट परिणाम की ओर ले जाता है।
5. सामाजिक प्रक्रियाएँ समाज की विभिन्न संस्थाओं के ढाँचों एवं कार्यों पर निर्भर करती हैं।
6. यह निश्चित रूप से सम्पूर्ण समाज में परिवर्तन लाती हैं।
7. सामाजिक प्रक्रिया में घटनाओं का बार-बार होना ही पर्याप्त नहीं है, उनका निरन्तर बना रहना भी आवश्यक होता है।

सामाजिक प्रक्रिया का स्वरूप (Forms of social process)

सामाजिक प्रक्रिया को मुख्य तौर पर दो रूपों में विभाजित किया गया है संगठनात्मक (Associative) तथा विघटनात्मक (Dissociative)

संगठनात्मक, सहगामी तथा एकीकरण करने वाली सामाजिक प्रक्रियाएँ सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएँ कहलाती हैं। ये समूह में एकता, सन्तुलन एवं संगठन बनाये रखने में सहयोग देते हैं। इनके अन्तर्गत सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण आदि प्रक्रियाएँ आती हैं। विघटनात्मक, पृथक्तावादी, असहगामी सामाजिक प्रक्रियाएँ समाज में पृथक्करण या विघटन उत्पन्न करने वाली असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएँ कहलाती हैं इनके अन्तर्गत प्रतिस्पर्धा और संघर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

गिलिन व गिलिन ने सामाजिक प्रक्रियाओं के वर्गीकरण के तीन प्रमुख प्रकारों को प्रस्तुत किया है, जो निम्नलिखित हैं :

1. सामान्य सामाजिक प्रक्रिया (General Social Process)
2. सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया (Associative Social process)
3. असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया (Dissociative Social Process)

पार्क और बर्गेस ने अपने अध्ययन में चार प्रक्रियाओं प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, समायोजन और सात्मीकरण पर विशेष बल दिया है।

मैकाइवर और मर्टन ने 'सहयोग' को भी सामाजिक प्रक्रिया की आधारभूत प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है।

3.4 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक प्रक्रिया की विशेषता एवं स्वरूप को सरल, सूक्ष्म एवं प्रभावी तरीके से बताया गया है। नैतिकता, नियन्त्रण के साधन और अन्य व्यवस्थाएँ सामाजिक जीवन के केवल स्थिर पक्ष से ही सम्बन्धित हैं जबकि सामाजिक प्रक्रियाएँ वे महत्वपूर्ण तथ्य हैं जो समाज में गतिशील तत्वों का निर्माण करते हैं।

3.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

4. सामाजिक प्रक्रिया क्या है? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
5. सामाजिक प्रक्रिया को परिभाषित कीजिये।
6. सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिये।

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

8. MacIver and Page, Society.
9. Society is the union itself, the organisation; the sum of formal relations in which associating individuals are bound together." Giddings, Principle of Sociology, The Mac Millan Co., New York, 1913.
10. "Society is a web of social relationship."- MacIver and Page, Society.
11. "Society is Co-operation crossed by conflict." MacIver and Page
12. "An animal have society, not culture". -E.A. Hoabel, Man is the Primitive World.
13. "Kingslay Davis, Human Society.
14. A. W. Green, sociology.

सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य (Objectives)
- 4.1 प्रस्तावना (Preface)
- 4.2 सहयोग (Co-operation)
- 4.3 प्रतिस्पर्धा (Competition)
- 4.4 संघर्ष (Conflict)
- 4.5 सारांश (Summary)
- 4.6 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सहयोग की परिभाषाओं, विशेषताओं तथा महत्व को जान सकेंगे।
- प्रतिस्पर्धा की परिभाषाओं, विशेषताओं तथा महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- संघर्ष की परिभाषाओं, विशेषताओं तथा महत्व को जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की परिभाषायें विशेषताएं एवं महत्व के बारे में बताया गया है। प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग एक दूसरे के विपरीतार्थक शब्द हैं, प्रतिस्पर्धा में व्यक्ति एक दूसरे से आगे निकलने का प्रयास करता है जबकि सहयोग के द्वारा व्यक्ति आपसी समझ-बूझ तथा वर्तालाप के द्वारा एक दूसरे के लिये कार्य करते हैं।

4.2 सहयोग (Co-operation)

सहयोग एक विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें किसी समान लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति या किसी सामान्य समस्या के समाधान के लिए लोग साथ-साथ कार्य करते हैं। सहयोग के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती है। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। मानव का सम्पूर्ण जीवन सहयोग की प्रक्रिया पर आधारित है। सहयोग की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति समाज में एक-दूसरे की सहायता कर अपने उद्देश्यों को पूरा कर समाज को संगठित करने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक स्तर पर सहयोग की प्रक्रिया विद्यमान होती है। समाज की प्रगति सहयोग और पारस्परिक निर्भरता पर आधारित होती है। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उसका रूप बदलता रहता है। आज व्यक्ति आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में सहयोग के द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। व्यक्ति का पारिवारिक जीवन सहयोग का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। श्रम-विभाजन का आधार भी पारस्परिक सहयोग पर आधारित है।

सहयोग की परिभाषा (Definition of Co-operation)

सहयोग वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति एक साथ संगठित होकर कार्य करते हैं।

प्रो. ग्रीन के अनुसार "सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा कोई कार्य करने अथवा सामान्य रूप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर और सामूहिक प्रयत्न है।"

किंग्सले डेविस के शब्दों में "एक सहयोगी समूह वह है जो ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मिलजुल कर प्रयत्न करता है जिसे सभी चाहते हैं।"

आगबर्न व निमकाफ ने सहयोग को परिभाषित करते हुए लिखा है, "सहयोग का एक रूप है जिसमें परिश्रम सामूहिक ढंग से किया जाता है और सभी व्यक्ति एक ही काम करते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उस काम को करता है और इनके विभिन्न कार्य एक सामूहिक फल के लिए निर्देशित होते हैं।"

फेयरचाइल्ड ने सहयोग को परिभाषित करते हुए लिखा है, "सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समूह अपने प्रयत्नों को न्यूनाधिक संगठित रूप में सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करते हैं।"

मेरिल तथा एल्डरेज "सामाजिक अन्तर्क्रिया के उस रूप को सहयोग कह सकते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साथ-साथ कार्य करते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह विदित होता कि सहयोग वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें कुछ व्यक्ति एक साथ संगठित होकर सामूहिक रूप से सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने कार्यों को संयुक्त करते हैं और इस भावना से परिपूर्ण रहते हैं कि यह व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं है वरन् सामूहिक प्रयत्न है।

विशेषताएं (Characteristics)

सहयोग वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें कुछ व्यक्ति एक साथ संगठित होकर सामूहिक रूप से सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने कार्यों को संयुक्त करते हैं और इस भावना से परिपूर्ण रहते हैं कि यह व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं है वरन् सामूहिक प्रयत्न है।

इस प्रकार सहयोग की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

1. सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो सामाजिक जीवन को संगठित करती है।
2. संगठित समूह के सदस्य सहयोग से सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।
3. सहयोग व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में प्रतीत होता है। श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण की प्रक्रियाओं का आधार सहयोग है।
4. सहयोग में निरन्तरता का गुण पाया जाता है।
5. सहयोग से व्यक्तियों में पारस्परिक सहायता, एकजुटता तथा बलिदान की भावनायें उत्पन्न होती हैं।
6. सहयोग से व्यक्तियों की कुशलता में वृद्धि होती है।
7. सहयोग की प्रक्रिया में दबाव तथा बाध्यता का तत्व विद्यमान नहीं होता है बल्कि यह व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

सहयोग का महत्व (Importance of Co-operation)

सहयोग मनुष्य के सामाजिक जीवन का आधारभूत स्तम्भ है। जन्म के समय से लेकर मृत्यु तक मनुष्य दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। सहयोग एक स्थायी तत्व है। समाज में कोई भी व्यक्तिगत या सामूहिक लक्ष्य की प्राप्ति बिना सहयोग के नहीं हो सकती है। सहयोग की आवश्यकता जितनी शान्ति में होती है उससे कहीं अधिक उसका महत्व युद्ध में होता है। बिना उचित सहयोग के युद्ध में विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आदान-प्रदान और आपत्ति काल में

एक-दूसरे की सहायता सहयोग पर आश्रित होती है। किसी राष्ट्र की सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में भी सहयोग सहायक होता है। इसके द्वारा व्यक्तियों में स्वार्थ भावना से ऊपर उठकर समूह कल्याण के प्रति चेतना जागृत होती है जो सामाजिक प्रगति के लिए मील का पत्थर बनती है।

समनर ने प्रतिस्पर्धा के लिए भी सहयोग को आवश्यक बताया है। सहयोग की प्रक्रिया व्यक्ति में पारस्परिक मतभेद को कमजोर बनाकर एकता की भावना का विकास करती है।

वर्तमान समाज का आर्थिक ढाँचा भी सहयोग पर निर्भर करता है। अमेरिका की पूँजीवादी व्यवस्था में भी प्रतिस्पर्धा सहयोग पर आश्रित होती है। उत्पादन में होने वाली प्रतिस्पर्धा का मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय आय में सबका सहयोग होता है। अतः सहयोग का महत्व सभी पक्षों जैसे आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, पारिवारिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में प्रतीत होता है।

4.3 प्रतिस्पर्धा (Competition)

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी समान उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तो सामाजिक प्रक्रिया की प्रतिस्पर्धा का जन्म होता है। यह अर्थशास्त्र के माँग और पूर्ति सिद्धान्त पर आधारित है। जब माँग की अपेक्षा पूर्ति में कमी हो जाती है तो प्रतिस्पर्धा की उत्पत्ति होती है। यह एक असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक पृथकता को प्रोत्साहित करने वाली प्रक्रियाओं में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। समाजशास्त्रीय कोष के अनुसार “प्रतियोगिता किसी सीमित वस्तु के प्रयोग या अधिपत्य के लिए संघर्ष है।”

मानव तथा पशु समाज सभी में समान रूप से प्रतिस्पर्धा की भावना देखने को मिलती है। चार्ल्स डार्विन ने अपने योग्यतम की उत्तरजीवितता के सिद्धान्त में प्रदर्शित किया है कि जिस प्राणी में प्रतियोगिता की क्षमता होती है वह ही इस संसार में जीवित रह पाता है अन्यथा स्वतः समाप्त हो जाता है। प्रतियोगितामूलक परिस्थितियाँ समाज में जीवित रहने वाली सभी प्रजातियों के सामाजिक जीवन में निहित होती हैं। प्रतिस्पर्धा को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है जो निम्नलिखित हैं :

बोर्गार्डस के अनुसार “प्रतिस्पर्धा किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रकट प्रयास है जिसकी मात्रा इतनी अधिक नहीं होती कि उसकी माँग को पूरा किया जा सके।”

बिसेंज तथा बिसेंज “प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के उस समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होड़ है, जो कि सीमित है और सभी उसके भागीदार नहीं बन सकते।”

सदरलैण्ड, बुडवर्ड तथा मैक्सवेल ने प्रतिस्पर्धा को परिभाषित करते हुए कहा है “प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों तथा समूहों के बीच उन सन्तुष्टियों की प्राप्ति के लिए होने वाला अवैयक्तिक, अचेतन और निरन्तर संघर्ष है जिनकी पूर्ति सीमित होने के कारण उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।”

फेयरचाइल्ड के शब्दों में “प्रतिस्पर्धा सीमित वस्तुओं के उपयोग अथवा अधिकार के लिए होने वाला संघर्ष है।”

प्रो. ग्रीन ने प्रतिस्पर्धा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “प्रतिस्पर्धा में दो या दो से अधिक समूह उन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, जिनमें किसी भी समूह से दूसरे से समझौता करने की आशा नहीं की जाती है।”

अतः उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक समान शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक क्षमता वाले व्यक्तियों के मध्य किसी निश्चित सीमित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया गया प्रयत्न है परन्तु आवश्यकता के अनुपात में उपलब्धता की कमी के कारण इसे सभी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

प्रतिस्पर्धा की विशेषताएं (Characteristics of Competition)

प्रतिस्पर्धा की कुछ सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. प्रतिस्पर्धा एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत सदस्यों के मध्य कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है।
2. यह एक अचेतन प्रक्रिया है, इसमें व्यक्तियों में केवल अपनी क्रियाओं के प्रति ही चेतनता होती है अन्य पक्षों की क्रियाओं के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं होती है।
3. प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया में प्रत्येक प्रतियोगियों का लक्ष्य एक निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करना होता है। इसके लिए वह बिना किसी पक्ष के हित का ध्यान रखे व्यक्तिगत रूप से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।
4. प्रतिस्पर्धा में निरन्तरता का गुण होता है। एक उद्देश्य को प्राप्त कर लेने के पश्चात् समाप्त नहीं होती वरन् व्यक्ति के जीवन में सतत चलती रहती है।
5. प्रतिस्पर्धा एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। यह संसार के प्रत्येक समाज में व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाती है। वर्तमान समय में व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र धर्म, शिक्षा, राजनीति, आर्थिक, सामाजिक, परिवारिक, औद्योगिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा निहित है।

प्रतिस्पर्धा का महत्व (Importance of Competition)

प्रत्येक प्रगतिशील समाज में प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया सदैव विद्यमान रहती है। प्रतिस्पर्धा के द्वारा व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करता है तथा अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करता है। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा विद्यमान रहती है। इसकी प्रक्रिया से प्रेरित होकर व्यक्ति अत्यधिक परिश्रमी तथा कार्यकुशल बनने का प्रयास करता है। यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें परिवर्तन एवं विकासात्मक अवसरों की प्राप्ति सम्भव होती है। हम यह कह सकते हैं कि स्वस्थ प्रतिस्पर्धा किसी राज्य अथवा देश को प्रगति के मार्ग पर अग्रसित करती है एवं उसे सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशमय कर देती है, अर्थात् जिस प्रकार से दीपक के उजाले के द्वारा अंधकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार मानव स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से समाज में भावनात्मक, संवेगात्मक तथा विकासात्मक स्थिति को प्राप्त करता है।

किंग्सले डेविस ने प्रतिस्पर्धा के सम्बन्ध में कहा है कि "प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया अत्यधिक गतिशील है। यह महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि करके, असफलता को चुनौती देकर, सफलता का विश्वास दिलाकर और प्रतिद्वन्द्विता के तत्व को जन्म देकर व्यक्ति को उच्च स्थितियां प्राप्त करने की प्रेरणा देती है।" यही कारण है कि जटिल और परिवर्तनशील समाजों में प्रतिस्पर्धा एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया बन जाती है। वास्तव में पाश्चात्य समाजों में तो प्रतिस्पर्धा आधुनिक सभ्यता का आवश्यक अंग बन गयी है क्योंकि इसका प्रगति से स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

4.4 संघर्ष (Conflict)

हम जानते हैं कि संघर्ष एक पृथक्कृत या विघटित सामाजिक प्रक्रिया है। जो समाज में पृथकता या विघटन को उत्पन्न करती है। यह सहयोग के विपरीत होती है तथा प्रतिस्पर्धा का बिगड़ा हुआ स्वरूप होती है। जब व्यक्तियों या समूहों में प्रतिस्पर्धा अनियंत्रित हो जाती है और प्रतिभागी अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए येन-केन प्रकारेण के पथ पर चलकर मात्र अपने हित को पूरा करने का प्रयत्न करने लगता है तो प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है। यह व्यक्ति के सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में पायी जाती है।

संघर्ष सामान्यतः समाज में सामाजिक सन्तुलन की स्थिति को असन्तुलित करती है तथा समाज में सामाजिक विघटन की दशा उत्पन्न करती है यह सामाजिक विघटन की दशा समाज में संघर्ष, सहयोग, विभेदीकरण आदि सामाजिक प्रक्रियाओं के लिए उत्तरदायी होती है। समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। समाज में तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन समाज के स्थापित सम्बन्धों को अस्त व्यस्त कर देते हैं, तो समाज के आदर्श प्रारूप का व्यक्तियों पर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता तथा व्यक्तियों और समूहों में अपने हितों को ध्यान में रखते हुए हितों की टक्कर प्रारम्भ हो जाती है, जो संघर्ष

का कारण बनती है। संघर्ष सामाजिक अन्तर्क्रिया का प्रमुख रूप है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने संघर्ष को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है।

संघर्ष की परिभाषा (Definition of conflict)

किंग्सले डेविस के अनुसार, “प्रतिस्पर्द्धा जब आदर्श नियमों की सीमा से बाहर निकल जाती है तो इस स्थिति को संघर्ष कहा जाता है।”

ग्रीन ने संघर्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि “संघर्ष दूसरों या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।”

पार्क और बर्गस के शब्दों में, “प्रतियोगिता और संघर्ष विरोध के दो रूप हैं जिनमें प्रतियोगिता अवैयक्तिक होती है, जबकि संघर्ष का रूप वैयक्तिक होता है।”

गिलिन और गिलिन के अनुसार, “संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा या हिंसा के भय के द्वारा प्रत्यक्ष चुनौती देकर करते हैं।”

मैकाइवर और पेज के शब्दों में “संघर्ष के अन्तर्गत वह सब प्रक्रियाएँ आ जाती हैं, जिनके द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं।”

जे.एच.फिचर ने संघर्ष को परिभाषित करते हुए कहा है “संघर्ष पारस्परिक अन्तर्क्रिया का वह रूप है, जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक दूसरे को दूर करने का प्रयास करते हैं।”

विशेषताएं (Characteristics)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संघर्ष की निम्नांकित विशेषताएं सामने आती हैं जो संघर्ष की प्रकृति को स्पष्ट करने में योग देती हैं :

1. संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना आवश्यक है जो एक-दूसरे के हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीडन के माध्यम से चोट पहुंचाने की कोशिश करते हैं।
2. संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक-दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है।
3. संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य है कि संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित न होकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है यहां सामान्य व्यक्तियों या समूहों के साथ संघर्ष नहीं किया जाता बल्कि व्यक्ति विशेष या समूह विशेष के साथ किया जाता है।

4. संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। इसका अर्थ यही है कि संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रुक-रुक कर चलता है।
5. संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है। जहां व्यक्तियों और समूहों के स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं, वहीं संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

महत्व (Significance)

संघर्ष एक विघटनकारी तथा पृथक्कता उत्पन्न करने वाली सामाजिक प्रक्रिया है, तत्पश्चात् इसके सामाजिक महत्व को समाज में नकारा नहीं जा सकता है। यह मानव समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक संगठन दोनों के लिए सामाजिक प्रक्रिया के रूप में संघर्ष आवश्यक है। संघर्ष की प्रक्रिया में केवल संकुचित स्वार्थों या वैयक्तिक हितों की पूर्ति एकमात्र लक्ष्य नहीं होता है, बल्कि संघर्ष का लक्ष्य वृहत्तर सामाजिक हितों की पूर्ति भी होता है। यह व्यक्ति तथा समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः इस सन्दर्भ में यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'संघर्ष ही जीवन है'। यह व्यक्ति की मानवीय गतिविधियों को गति प्रदान करता है।

4.5 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई के द्वारा सहयोग प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की परिभाषा एवं महत्व को व्यवस्थित तरीके से समझने का प्रयास किया गया है। इस इकाई में सहयोग प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के बीच क्या मूलभूत अंग हैं इसे भी समझने का प्रयास किया गया है।

4.6 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. सहयोग को परिभाषित कीजिए तथा इसके महत्व एवं विशेषताओं को बताइये।
2. संघर्ष से आप क्या समझते हैं ? प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. MacIver and Page, Society.
2. "Society is a web of social relationship."- MacIver and Page, Society
3. "Kingslay Davis, Human Society.
4. A. W. Green, sociology.
5. Reuter and Hart, Introduction to sociolog

संस्था

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य (Objectives)

5.1 प्रस्तावना (Preface)

5.2 संस्था (Institutions)

5.3 सारांश (Summary)

5.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

5.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

5.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संस्था की अवधारणा एवं परिभाषाओं के बारे में जान सकेंगे।
- संस्था के सामाजिक कार्य को समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में संस्था, के बारे में बताया गया है। वास्तव में इन सभी संस्थाओं के निर्माण की आवश्यकता व्यक्ति को अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये पडती है। इस प्रकार ये सभी संस्थायें जीवन की एक आवश्यक जीवन रेखा है।

5.2 संस्था (Institutions)

प्रत्येक समाज में मानव की अनेक आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ पूर्व निश्चित कार्य-विधियाँ या साधन होते हैं। जो समाज द्वारा मान्य या स्वीकृत होते हैं, इनमें सामाजिक मनोवृत्तियों तथा सांस्कृतिक आदर्शों का समावेश होता है, इन्हें संस्था कहते हैं। सर्वप्रथम हरबर्ट स्पेन्सर ने

अपनी पुस्तक 'First Principles' में संस्था शब्द का प्रयोग किया था। स्पेन्सर के अनुसार “संस्था वह अंग है जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को क्रियान्वित किया जाता है।”

संस्थाएँ मानव व्यवहार को नियन्त्रित कर उन्हें आवश्यक दिशा—निर्देशन प्रदान करती हैं। संस्थाएँ अमूर्त होती हैं क्योंकि इनके द्वारा कार्यान्वित नियम तथा कार्यविधियाँ अमूर्त होती हैं। जैसे— परिवार व्यक्तियों का समूह होने के कारण एक समिति है, परन्तु इसके कार्यों को कार्यान्वित करने के अनेक नियम तथा कार्यविधियाँ (जैसे विवाह, घरेलू रीतियाँ आदि) होती हैं। ये नियम तथा कार्यविधियाँ परिवार की ‘संस्थाएँ’ हैं। जो परिवार को संगठित कर उनके लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन होती हैं।

संस्था की परिभाषाएँ

संस्था के प्रत्यय को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न—भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है:

समनर ने संस्था के सन्दर्भ में कहा है “संस्था के अन्तर्गत अवधारणा (विचार, द्वारणा, सिद्धान्त या हित) और संरचना निहित है।”

एण्डरसन के अनुसार “संस्था कुछ आदर्श नियमों का संग्रह है जो हमारी सामाजिक क्रियाओं के प्रमुख पक्षों से सम्बद्ध होता है।”

बोर्गार्डस का संस्था के परिप्रेक्ष्य में कथन है कि “एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है जिसको सुस्थापित कार्यविधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।”

मैकाइवर और पेज के अनुसार “संस्था सामूहिक क्रिया की विशेषता बताने वाली प्रणाली में स्थापित स्वरूप या अवस्था को कहते हैं।”

रॉस के अनुसार “सामाजिक संस्थाएँ संगठित मानवीय सम्बन्धों का समूह हैं जिनकी स्थापना तथा स्वीकृति सामान्य इच्छा द्वारा की जाती है।”

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संस्थाएँ समाज द्वारा स्वीकृत सुव्यवस्थित साधनों तथा कार्य प्रणालियों का वह क्रियात्मक ढाँचा है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

संस्था के आवश्यक तत्व

संस्था के कुछ आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं जो संस्था की विशेषताएँ भी हैं :

1. निश्चित उद्देश्य

प्रत्येक संस्था का विकास किसी निश्चित उद्देश्य या विशेष प्रायोजन की पूर्ति के लिए होता है। बिना किसी निश्चित उद्देश्य के संस्था का कोई महत्व नहीं होता है।

2. स्वीकृत कार्य प्रणाली

प्रत्येक संस्था समाज द्वारा स्वीकृत होती है। संस्था का निर्माण मानव की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। संस्था द्वारा स्थापित नियम तथा कार्यविधियाँ समाज द्वारा स्वीकृत तथा मान्य होते हैं।

3. निश्चित संरचना

निश्चित संरचना समाज की प्रमुख विशेषता है। एक ही संस्था विभिन्न समाजों में पृथक संरचना प्राप्त कर सकती है। विवाह नामक संस्था प्रत्येक समाज में पायी जाती है, परन्तु प्रत्येक समाज में उसका स्वरूप भिन्न रहता है।

4. सामूहिक प्रयत्न

संस्था किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं रहती है। इसके लिए सामूहिक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। विभिन्न व्यक्तियों के समूहों के प्रयासों के द्वारा इसका शनैः शनैः विकास होता है।

5. नियमों का ढाँचा

संस्था की विशेषता यह है कि प्रत्येक संस्था के पीछे नियमों, कार्य-प्रणालियों, व्यवस्थाओं आदि का एक ढाँचा होता है जो उसे कार्य रूप में परिणति करता है।

6. स्थायित्व

संस्थाओं का विकास शनैः शनैः व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुसार दीर्घकाल के सामाजिक विकास के अन्तर्गत होता है। अतः यह समाज के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सिद्ध होती है जिससे इसमें स्थिरता आती है। यह समाज के लिए दीर्घकाल तक चलती रहती है। भारत में जाति-प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है, जिसका अस्तित्व आज भी बना हुआ है।

7. प्रतीक

प्रत्येक संस्था की विशेषता उसका अपना एक प्रतीक होता है। यह प्रतीक भौतिक तथा अभौतिक दोनों रूपों में हो सकता है। जैसे किसी शैक्षिक संस्था का भवन तथा उसमें उपलब्ध भौतिक वस्तुएँ उस संस्था का भौतिक प्रतीक हैं तथा उस संस्था पर स्थापित सिद्धान्त उसका अभौतिक प्रतीक होता है।

8. सांस्कृतिक विरासत

प्रत्येक संस्था संस्कृति की एक प्रभावपूर्ण इकाई होती है। यह समाज की जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, आदर्शों, मूल्यों तथा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करती रहती है।

संस्था के सामाजिक कार्य (Social Functions of Institutions)

प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता है। संस्थाएँ नियमपूर्वक विशिष्ट कार्य प्रणालियों के माध्यम से मानव की आवश्यकताओं या उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करती हैं। अतः संस्थाएँ समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हैं। इनके निम्नलिखित सामाजिक कार्य हैं :

1. मार्गदर्शन

संस्थाएँ मानव व्यवहारों को नियन्त्रित कर उन्हें आवश्यक मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। ये अपने सुस्थापित नियमों तथा कार्यप्रणालियों द्वारा मानव की आवश्यकताओं को पूरा करके उनके आचरण तथा व्यवहारों को दिशा-निर्देशित करती हैं।

2. संस्कृति का हस्तान्तरण

संस्थाएँ सांस्कृतिक विशेषताओं को एक-पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने का कार्य करती हैं। यह मानव की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा कर भावी पीढ़ी में इनकी विशेषताओं की वाहक है। ये समाज के नियमों, मूल्यों, परम्पराओं, रूढ़ियों, धर्म तथा व्यवहारों को नयी पीढ़ी में पहुँचाने का कार्य करती हैं।

3. आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन

संस्थाओं का निर्माण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुरूप होता है। आवश्यकताएँ आविष्कार की जननी होती हैं। जैसी मानव की आवश्यकतायें होती हैं उसी के अनुसार संस्था का विकास होता है। जैसे धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए धर्म संस्थाओं का विकास, शैक्षिक ज्ञान के लिए शैक्षिक संस्थाओं का विकास होता है।

4. स्थिति एवं कार्य का निर्धारण

संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति को निश्चित स्थिति प्राप्त होती है जिसके अनुरूप वे अपने कार्यों का निर्वहन करते हैं। जैसे परिवार संस्था में प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग भूमिका होती है (जैसे- माता-पिता, पुत्र-पुत्री, दादा-दादी आदि)। व्यक्ति अपनी इन स्थितियों या भूमिकाओं के अनुसार निर्धारित अपने कार्यों या दायित्वों का निर्वहन कर परिवार में सन्तुलन बनाए रखता है।

5. सामाजिक परिवर्तन में सहायक

संस्थाएँ सामाजिक नियमों, प्रथाओं, परम्पराओं तथा मूल्यों द्वारा विकसित होती हैं, अतः इसकी प्रकृति अत्यन्त रूढ़िवादी होती है। ये मानव आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निर्मित होती हैं। आधुनिक युग के बदलते परिवेश में मानव की आवश्यकताएँ भी अत्यन्त तीव्र गति से परिवर्तित हो रही हैं। अतः इन बदली हुई परिस्थितियों में संस्थाओं के स्वरूप को भी बदलने का प्रयास किया जा रहा है, जो सामाजिक परिवर्तन में सहायक होता है।

5.3 सारांश (Summary)

एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों (जिनमें क्रियाएँ, मनोवृत्तियाँ और सांस्कृतिक उपकरण आदि सम्मिलित हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है जिसमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है।

5.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. संस्था क्या है? इसके सामाजिक कार्य को बताइये।
2. संस्था की अवधारणा बताते हुए इसे परिभाषित कीजिए।

5.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. "An institution consists of a concept (Idea, Notion, doctrine or interest) and a structure - Sumner, folkways.
2. "Institution is the established form or condition of procedure, characteristic of group activity."-MacIver & page, society.
3. "Social institutions are set of organised human relationships established or sanctioned by the common will." E. A. Ross, Principles of Sociology.
4. Kingslay Davis, Human Society.

विवाह एवं परिवार

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य (Objectives)
- 6.1 प्रस्तावना (Preface)
- 6.2 विवाह (Marriage)
- 6.3 परिवार (Family)
- 6.4 सारांश (Summary)
- 6.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

6.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- विवाह की परिभाषा, विशेषता, उद्देश्य, प्रकार एवं महत्व के बारे में जान सकेंगे।
- परिवार की परिभाषा, विशेषता, प्रकार एवं महत्व से परिचित हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में विवाह एवं परिवार की परिभाषायें, विशेषताएं, उद्देश्य, प्रकार एवं महत्व के बारे में बताया गया है। विवाह हिन्दू धर्म में एक प्रमुख संस्कार माना गया है। विवाह के माध्यम से ही एक नये परिवार की स्थापना होती है। विवाह के द्वारा सामाजिक रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का पालन व्यवस्थित तरीके से होता है।

6.2 विवाह (Marriage)

परिभाषाएं (Definitions)

वेस्टरमार्क के अनुसार, “विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उससे उत्पन्न बच्चों के उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकारों व कर्तव्यों का समावेश होता है।”

बोगार्डस ने विवाह के सम्बन्ध में कहा है कि “विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश की संस्था है।”

गिलिन तथा गिलिन के अनुसार, “विवाह एक प्रजनन मूलक परिवार की स्थापना का समाज द्वारा स्वीकृत तरीका है।”

विशिष्टताएं (Characteristics)

विश्लेषण के आधार पर विवाह की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :

1. विवाह एक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था है।
2. विवाह स्त्री तथा पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश का द्वार है।
3. विवाह की मान्यता प्रथा तथा कानून के अनुसार होती है।
4. विवाह पति-पत्नी के कर्तव्यों और अधिकारों के पालन की आचार-संहिता प्रस्तुत करता है।
5. विवाह वह संस्था है जो नये सदस्यों को जन्म देकर समाज का अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम है।

उद्देश्य (Objectives)

विवाह एक उद्देश्यपूर्ण सामाजिक संस्था है। विभिन्न समाजों में इसका गठन पृथक-पृथक उद्देश्यों को लेकर किया गया है। इस आवश्यक सामाजिक संस्था जिसे एक संस्कार माना गया है, के कुछ प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. परिवार के निर्माण का आधार

विवाह के द्वारा प्राप्त कानूनी तथा सामाजिक वैधता व्यक्ति के परिवार निर्माण का आधार होती है। विवाह मनुष्य के गृहस्थ जीवन का प्रवेश द्वार है।

2. आर्थिक सहयोग

विवाह का उद्देश्य आर्थिक सहयोग भी है। पति-पत्नी पारस्परिक श्रम विभाजन द्वारा कार्यों का संचालन करते हैं।

3. सम्बन्धों में स्थायित्व

विवाह के द्वारा मानव के सम्बन्धों में स्थायित्व आता है। वह एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों का निर्वाह पूर्णतया समर्पित होकर करते हैं।

4. सांस्कृतिक मूल्यों का स्थायित्व

विवाह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का सुअवसर प्रदान करके व्यक्ति के सांस्कृतिक मूल्यों को स्थायी स्वरूप देने का मार्ग प्रशस्त करता है। परिवार, मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक सीख की प्रथम पाठशाला है।

प्रकार (Types)

विभिन्न समाजों में सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण विवाह के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। प्रत्येक समाज में उसकी संस्कृति के अनुरूप नियम, कानून, व्यवस्था तथा परम्पराएँ होती हैं जिनका समाज के सदस्य पालन करते हैं। अतः इन सांस्कृतिक भिन्नताओं के अनुरूप विवाह के भी भिन्न रूप होते हैं।

1. एक विवाह

एक विवाह से तात्पर्य ऐसे विवाह से जिसमें एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। सामाजिक दृष्टि के साथ-साथ कानूनी रूप से भी इस विवाह को मान्यता प्राप्त है।

2. बहु-विवाह

एक विवाह की भाँति बहु-विवाह की प्रथा भी अनेक समाजों में प्रचलित है। बहुविवाह का तात्पर्य ऐसे विवाहों से है जिसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है तथा एक स्त्री अनेक पुरुषों से विवाह कर सकती है। इस विवाह के दो रूप हैं :

3. समूह विवाह

इस प्रकार के विवाह का प्रचलन जनजातियों में तथा विवाह की संस्था के विकास के प्रारम्भिक अवस्थाओं में पाया जाता रहा है। इसमें स्त्रियों का एक समूह पुरुषों के एक समूह से विवाह कर लेता है तथा प्रत्येक पुरुष को प्रत्येक स्त्री के साथ रहने की स्वतन्त्रता होती है। औपचारिक रूप से कोई भी किसी का पति या पत्नी नहीं होते।

महत्व (Significance)

विवाह सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण संस्था है। इसका महत्व निम्नलिखित है:

(1) सामाजिक सम्बन्धों की दृढ़ता

सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था को प्रभावित करने में विवाह संस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है। हॉबेल के अनुसार, “विवाह का प्रमुख कार्य व्यक्तियों के सम्बन्धों को उनके रक्त सम्बन्धियों और नातेदारों के प्रति परिभाषित करना तथा उन पर नियन्त्रण रखना है।”

(2) जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति

विवाह के माध्यम से व्यक्ति की जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। स्त्री-पुरुष के स्वस्थ सम्बन्धों का विकास होता है।

(3) व्यक्ति का समाजीकरण

विवाह संस्था व्यक्ति के समाजीकरण में सहायक होती है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने से भिन्न विचारधारा वाले व्यक्ति के साथ अनुकूलन करता है तथा एक-दूसरे के ज्ञान को अर्जित करता है।

(4) संस्कृति का हस्तान्तरण

विवाह संस्था के द्वारा समाज में संस्कृति का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता है।

6.3 परिवार (Family)

परिभाषाएं (Definitions)

परिवार समाज की एक आधारभूत इकाई है। परिवार का अस्तित्व विश्व के सभी समाजों में पाया जाता है। यह वह प्राथमिक समूह है जो सृष्टि के आदि काल से किसी न किसी रूप में सभी समाजों में व्याप्त है। परिवार को परिभाषित करते हुए विद्वानों ने लिखा है—

किंग्सले डेविस के अनुसार “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिनके एक-दूसरे के प्रति सम्बन्ध संगोत्रता पर आधारित होते हैं और जो इस प्रकार एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते हैं।”

मैकाइवर और पेज ने परिवार को स्पष्ट करते हुए इसके परिप्रेक्ष्य में कहा है कि “परिवार एक ऐसा समूह है जिसमें यौन सम्बन्ध पाये जाते हों, जिसका आकार छोटा हो और जो बच्चों के प्रजनन तथा पालन-पोषण का सामर्थ्य रखता है।”

ऑगबर्न और निमकॉफ के अनुसार, “परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है, चाहे उनके सन्तान हो अथवा न हो।”

विशेषताएं (Characteristics)

मैकाइवर और पेज ने अपनी पुस्तक society में परिवार की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है जो किसी दूसरे मानव समूह में देखने को नहीं मिलती हैं। ये निम्नलिखित हैं:

(1) सीमित आकार

मानव समाज में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा परिवार का आकार अत्यधिक सीमित तथा छोटा होता है।

(2) सामाजिक संगठन का आधार

पारिवारिक नियम समाज को व्यवस्थित बनाने में अत्यन्त सहायक हैं। पारिवारिक नियम व्यक्ति के जीवन को किसी विशेष क्षेत्र में ही प्रभावित नहीं करते हैं, बल्कि रीति-रिवाज, धर्म, शिक्षा, आदर्श, नैतिक मूल्य, पारस्परिक सम्बन्ध, परम्पराएं, शिष्टाचार आदि व्यक्ति के व्यवहारों को नियंत्रित कर उनके सामाजिक जीवन को नियमित कर सामाजिक संगठन को व्यवस्थित बनाए रखने का आधार प्रदान करते हैं।

(3) सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति

परिवार सामाजिक ढाँचे की प्रथम व बहुमूल्य केन्द्रीय मौलिक इकाई है। परिवार का संगठन सामाजिक संरचना का आधार है।

(4) सर्वव्यापकता

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। प्रत्येक समाज में आदि काल से इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में व्याप्त है।

(5) भावनात्मक आधार

परिवार के प्रत्येक सदस्य का एक दूसरे के प्रति भावनात्मक लगाव होता है। परिवार में मानवीय प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है।

(6) रचनात्मक प्रभाव

परिवार संस्था अपने सदस्यों के हितों को ध्यान रखते हुए उनके चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। परिवार बच्चे की प्राथमिक पाठशाला होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(7) सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व

समाज में परिवार ही एक ऐसी संस्था है, जहाँ व्यक्तियों में एक-दूसरे के प्रति बिना किसी स्वार्थ के त्याग तथा उत्तरदायित्व की भावना निहित होती है।

(8) परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति

मैकाइवर ने परिवार के दो स्वरूपों का उल्लेख है। समिति के रूप में परिवार अस्थायी और परिवर्तनशील होता है। नये सदस्यों का परिवार से जुड़ने (विवाह या नये शिशु जन्म द्वारा) के कारण परिवार के आकार में परिवर्तन हो जाता है। जबकि संस्था के रूप में परिवार नियमों तथा कार्यप्रणालियों की व्यवस्था है जो परिवार का स्थायी रूप है।

प्रकार (Types)

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। यह विभिन्न समाजों में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नता के कारण परिवार के स्वरूप तथा प्रणालियों में भी भिन्नता पायी जाती है। अतः इसी आधार पर परिवार के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया है :

(i) परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर

भारतीय समाज में परिवार के विभाजन का यह मुख्य रूप है। सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार को दो भागों में विभाजित किया गया है :

(अ) केन्द्रीय अथवा मूल परिवार

केन्द्रीय परिवार को एकाकी परिवार भी कहते हैं। यह परिवार की इकाई का सबसे छोटा रूप है। इसके अन्तर्गत माता-पिता तथा उनके अविवाहित बच्चे आते हैं।

(ब) संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार विस्तृत परिवार है। जिसमें एक से अधिक पीढ़ी के सदस्य साथ-साथ रहते हैं।

(ii) सत्ता के आधार पर

परिवार की सत्ता पुरुष के अधीन होगी अथवा स्त्री के अधीन होगी। इस आधार पर परिवार को दो रूपों में विभाजित किया गया है :

(अ) मातृसत्तात्मक परिवार

जिस परिवार के शासन की बागडोर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के हाथ में होती है उसे मातृसत्तात्मक परिवार कहते हैं।

(ब) पितृसत्तात्मक परिवार

जिस परिवार की सत्ता पुरुषों के हाथ में होती है उसे पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं।

(iii) विवाह सम्बन्धों के आधार पर

विवाह के आधार पर परिवारों को तीन प्रकारों को स्पष्ट किया गया है :

(अ) एक-विवाही परिवार

एक विवाही परिवार के अन्तर्गत वह परिवार आता है, जिसमें एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह हुआ हो।

(ब) बहुपति परिवार

जब एक स्त्री का कई पुरुषों के साथ विवाह होता है तो ऐसे परिवार को बहुपति परिवार कहते हैं।

(स) बहुपत्नी परिवार

इन परिवारों में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ विवाह करता है। तो ऐसे परिवार को बहुपत्नी परिवार कहते हैं।

(iv) वंशनाम के आधार पर

वंशनाम के आधार पर परिवार के दो रूपों का वर्णन किया गया है :

(अ) मातृसूचक परिवार

माँ की प्रधानता जिस समाज में होती है उनके नाम से वंश आगे चलता है, ऐसे परिवार को मातृसूचक परिवार कहते हैं।

(ब) पितृसूचक परिवार

इसके विपरीत पिता की प्रधानता जिस परिवार में होती है और पिता के नाम से ही सन्तान के वंश का निर्धारण होता है, उस परिवार को पितृसूचक परिवार कहा जाता है।

(V) सामाजिक परिस्थितिकी के आधार पर

सामाजिक परिस्थितिकी अथवा समुदाय की रचना के आधार पर भी परिवार के स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है :

(अ) ग्रामीण परिवार

भारत की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। अतः इनके पारिवारिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। ग्रामीण परिवारों में कृषि कार्यों की प्रधानता होती है। इनके सदस्यों में पारस्परिक प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। गाँवों में संयुक्त परिवार की झलक नगरों की अपेक्षा आज भी विद्यमान है। ग्रामीण परिवार अत्यन्त रूढ़िवादी होते हैं तथा इनमें परम्परा और धर्म को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। यह कठोरता से अनुशासनों का पालन करते हैं तथा इनमें परस्पर सहयोग तथा एकीकरण की भावना होती है।

(ब) नगरीय परिवार

नगरीय परिवार नगरों में निवास करते हैं। इनके सदस्यों के मध्य अत्यधिक स्वतन्त्र तथा हित-प्रधान सम्बन्ध पाये जाते हैं। नगरीय परिवारों का स्वरूप आकार में छोटा होता है। अधिकांशतः इनमें एकाकी परिवार होते हैं। नगरीय परिवारों में सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिशीलता पायी जाती है।

महत्व (Significance)

परिवार मानव समाज के लिए अत्यधिक आवश्यक प्राथमिक तथा मौलिक संस्था है। परिवार के द्वारा ही वह समाज में जन्म लेकर अपना मानव रूप में विकास कर सामाजिक प्राणी बनता है। परिवार का मानव जीवन तथा समाज में अत्यन्त महत्व है। इसके प्रमुख कार्यों को आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(1) प्राणीशास्त्रीय महत्व

परिवार का प्रमुख कार्य बच्चों का पालन-पोषण करना उनकी रक्षा करना तथा परिवार के सभी दायित्वों को पूर्ण करना है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है तथा समाज की संरचना को बनाए रखता है।

(2) आर्थिक महत्व

व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा परिवार के पालन पोषण के लिए व्यवसाय या आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करता है। परिवार के प्रत्येक सदस्यों में अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार श्रम विभाजन होता है।

(3) सामाजिक महत्व

परिवार के सामाजिक कार्यों के अन्तर्गत व्यक्ति की 'प्रस्थिति' तथा 'भूमिका' का निर्धारण होता है। परिवार के द्वारा ही बाल्यकाल में बच्चे के समाजीकरण द्वारा उसके व्यक्तित्व के गुणों को विकसित कर उसका व्यक्तित्व विकास किया जाता है तथा उसे जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित किया जाता है।

(4) मनोवैज्ञानिक महत्व

परिवार मनुष्य को केवल शारीरिक सुरक्षा ही प्रदान नहीं करता बल्कि मानव की मानसिक संरचना, व्यवहार तथा आदतें आदि भी परिवार की देन है।

(5) राजनैतिक महत्व

मानव के जीवन में परिवार का महत्व राजनैतिक कार्यों के रूप में भी महत्वपूर्ण है। परिवार में राज्य के समान ही नियम, कानून, परम्परा तथा व्यवस्थाएं आदि होती हैं जो सदस्यों के व्यवहार को निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं। परिवार का मुखिया परिवार की सबसे मुख्य सत्ता होती है, अन्य परिवार के सदस्य उसकी आज्ञा तथा नियमों का पालन करते हैं।

(6) मनोरंजनात्मक महत्व

परिवार के स्वस्थ वातावरण में व्यक्ति भरपूर मनोरंजन प्राप्त करता है। दादी-दादा के द्वारा अनेको मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक किस्से कहानियों को सुनकर बच्चे परिवार में आनन्द प्राप्त करते हैं तथा साथ ही साथ उनके ज्ञान, वीरता तथा समझ आदि में वृद्धि होती है।

(7) शैक्षिक महत्व

परिवार बच्चों की प्राथमिक पाठशाला होती है। सर्वप्रथम बच्चे परिवार में रहकर अपने सामाजिक तथा नैतिक ज्ञान की सीख प्राप्त करता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा चरित्र पर परिलक्षित होता है।

(8) धार्मिक महत्व

परिवार धार्मिक क्रियाकलापों तथा उत्सवों का केन्द्र है। परिवार के द्वारा व्यक्ति में धार्मिक गुणों का विकास होता है। यह धार्मिक गुण, अनुष्ठान, पूजा, कर्मकाण्ड, रीति रिवाज, नियम तथा परम्पराएं आदि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं तथा व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं।

6.4 सारांश (Summary)

इस इकाई में विवाह की विशेषता, उद्देश्य एवं प्रकार को सहज, सरल एवं व्यवस्थित तरीके से बताया गया है। वास्तव में विवाह जैसी संस्था की आवश्यकता समाज के नैतिक नियमों एवं मान्यताओं को स्वीकार करने तथा उसका पालन करने के लिये की गई है।

6.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. परिवार के अर्थ एवं इसके स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।
2. पितृसत्तात्मक परिवार एवं मातृसत्तात्मक परिवार की तुलना कीजिए तथा स्त्रियों की स्थिति पर उसके प्रभाव का वर्णन कीजिए।
3. परिवार के महत्व का वर्णन कीजिए तथा इसकी विशेषताएं बताइये।
4. विवाह के प्रमुख स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. "Marriage is an institution admitting men and women to family life." E.S.Bogardus, Sociology, The Macmillian Co., New York, 1957.
2. K.M. Kapadia, Family and marriage in India.
3. G.A. Lundberg and others, Sociology.
4. "The family is a group defined by sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for procreation and upbringing of children" - MacIver & page, Society.
5. Kingslay Davis, Human Society.

सामाजिक समूह

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य (Objectives)

7.1 प्रस्तावना (Preface)

7.2 सामाजिक समूह (Social Groups)

7.3 सारांश (Summary)

7.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

7.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

7.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सामाजिक समूह की परिभाषाओं एवं विशेषताओं को जान सकेंगे।
- सामाजिक समूह का वर्गीकरण एवं प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह की परिभाषा, विशेषता, वर्गीकरण तथा प्रकार के बारे में बताया गया है। सामाजिक समूहों का निर्माण सामाजिक संबंधों की आवश्यकता के आधार पर होता है। सामाजिक समूह मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं प्राथमिक एवं द्वितीयक।

7.2 सामाजिक समूह (Social Groups)

समूह समाज की इकाई है। समाज समूहों का संग्रह है। समाज में व्यक्ति अनेक सामाजिक समूहों का सदस्य होता है। परिवार, क्रीड़ा-समूह, पड़ोस, मित्र-मण्डली और राज्य आदि ऐसे ही सामाजिक समूह हैं। समूह रूपी भूमि में अंकुरित होकर मानव समूह में रहकर ही पुष्पित और पल्लवित होता है। समूह व्यक्ति

का समाजीकरण कर उसके व्यक्तित्व को विकसित कर व्यक्ति के अन्दर समाज के आदर्शों, मूल्यों, व्यवहारों की समझ पैदा कर उसे व्यवहार—कुशल तथा निपुण बनाते हैं।

समूह की अवधारणा विविध रूपों में समस्त प्राणियों में आदिम काल से ही विद्यमान है। यह विश्वव्यापी अवधारणा है। सम्पूर्ण विश्व में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ समूह नहीं पाये जाते हैं। सभी लघु एवं बड़े आकार के प्राणियों में समूह अस्तित्ववान है। समूह समाज की मूलभूत अवधारणा है। मानव व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में समूह की अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। इसे विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न—भिन्न विचारों के आधार पर स्पष्ट कर परिभाषित किया है।

सामाजिक समूह की परिभाषाएँ (Definition of Social Group)

मैकाइवर और पेज “समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से है जो सामाजिक सम्बन्धों के कारण एक—दूसरे से सम्बद्ध हो।”

आगबर्न और निमकॉफ “जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होकर एक—दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।”

बोगार्डस “एक सामाजिक समूह का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनका समान स्वार्थ होता है, जो एक—दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें समान वफादारी पायी जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।”

गिलिन और गिलिन “सामाजिक समूह के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है, जिसमें सम्बन्धित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अन्तःउत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सके एवं जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान केन्द्रित रहे और सामान्य चालकों, प्रेरकों एवं संवेगों का विकास हो सके।”

विलियम्स सामाजिक समूह लोगों के उस निश्चित संकलन को कहते हैं जो परस्पर सम्बन्धित कार्य करते हैं और अपने द्वारा परस्पर अन्तर्क्रिया करने वाली इकाई के रूप में पहचाने जाते हैं।

लैण्डिस “जब दो या अधिक व्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वहाँ समूह बन जाता है।”

इलियट और मैरिल “सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिसका एक लम्बी अवधि में संचार होता रहा है तथा जो एक सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते हैं।”

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण व विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक समूह व्यक्तियों का ऐसा संग्रह है जिसमें दो से लेकर अनेक व्यक्ति समाहित होते हैं। व्यक्तियों की इस समग्र

इकाई का कोई सर्वमान्य हित, उद्देश्य तथा स्वार्थ होता है जिसकी पूर्ति के लिए वह संग्रहित होकर जागरूक अवस्था में सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं, जिसे सामाजिक समूह कहते हैं।

सामाजिक समूह की विशेषताएं (Characteristics of Social Group)

सामाजिक समूह की कुछ अपनी मौलिक विशिष्टता होती है जिनके कारण यह पहचाने जाते हैं। इनकी यह विशिष्टता निम्नलिखित विशेषताओं को स्पष्ट करती है।

(1) व्यक्तियों का संकलन

सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जिनमें सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं और जो पारस्परिक अन्तःक्रिया करते हैं। किसी भी समूह का निर्माण व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता है। गिलिन और गिलिन के शब्दों में इसी सन्दर्भ में स्पष्ट होता है कि “समूह की आधारभूत विशेषताएं दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क का होना है।” सामाजिक अन्तःक्रियाओं की अनुपस्थिति में मात्र शारीरिक समीपता से सामाजिक समूह का निर्माण नहीं हो सकता है।

(2) मूर्तता

सामाजिक समूह का निर्माण व्यक्तियों के समूह से होता है। व्यक्तियों का समूह मूर्त होता है, अतः मूर्तता सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषता है।

(3) निश्चित संरचना या ढाँचा

सामाजिक समूह का एक निश्चित संरचना या ढाँचा होता है। समूह में प्रत्येक सदस्य के पद, कार्य, अधिकार तथा भूमिका आदि निर्धारित होते हैं। सामाजिक समूह में आयु, लिंग, धर्म—जाति और प्रजाति के अनुरूप सामाजिक संस्तरण भी पाया जाता है।

(4) समान हित

समान स्वार्थ या हित की भावना के आधार पर ही सामाजिक समूह का निर्माण होता है। समान हितों से जुड़े होने के कारण सदस्यों के मध्य सम्बन्ध सुदृढ़ होते हैं। समान स्वार्थपूर्ति का लक्ष्य लेकर ही व्यक्ति समूह का सदस्य बन पाता है। पृथक—पृथक हितों की अभिलाषा होने पर समूह बिखर जाता है।

(5) श्रम विभाजन

प्रत्येक समूह का निर्माण किसी न किसी उद्देश्य पूर्ति के लिए किया जाता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समूह के प्रत्येक सदस्यों में पृथक—पृथक कार्य विभाजन होता है जो समूह को संगठन के सूत्र में

बाँधे रखता हैं। जैसे किसी कार्यालय में काम करने वाले सभी सदस्यों के कार्यों का पृथक-पृथक विभाजन होता है, परन्तु उनका उद्देश्य समान होता है। अतः समूह के सभी सदस्य समूह द्वारा प्रदत्त भूमिका को निभाना अपना दायित्व समझते हैं।

(6) पारस्परिक जागरूकता

मैकाइवर एवं पेज ने पारस्परिक जागरूकता को समूह का आवश्यक तत्व माना है। इसके द्वारा समूह के सदस्यों में परस्पर सहानुभूति एवं सहयोग की भावना पाई जाती है। यह भावना सभी लोगों में समान प्रकृति की नहीं होती। अतः विभिन्न रूचियों तथा मनोवृत्तियों वाले व्यक्तियों से बनने वाले विभिन्न समूहों की प्रकृति भी एक-दूसरे से भिन्न होती है।

(7) ऐच्छिक सदस्यता

यद्यपि व्यक्ति किसी न किसी समूह का सदस्य अवश्य होता है, परन्तु एक समूह-विशेष की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता तथा रूचि के अनुसार किसी नये समूह की सदस्यता को ग्रहण कर सकता है, अथवा पुराने समूह की सदस्यता को छोड़ सकता है।

(8) आदर्शों का महत्व

आदर्शों को महत्व देना सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषता है। समूह के सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने के लिए आदर्श तथा प्रतिमान निर्धारित किये जाते हैं। प्रत्येक समूह के अपने निश्चित आदर्श तथा प्रतिमान होते हैं जो व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित कर उन्हें एक निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं।

(9) एकता और सहयोग की भावना

समूह के सदस्यों में आपस में एकता तथा सहयोग की भावना होनी आवश्यक है। उनमें आपस में 'हम की भावना' की अनुभूति होनी चाहिए। जिससे वे एकजुट होकर परस्पर सहयोग द्वारा स्वार्थ की भावना का परित्याग कर सम्पूर्ण समूह के विकास के लिए कार्य करें।

(10) निश्चित उद्देश्य

प्रत्येक समूह के निर्माण के समय उसका एक निश्चित मान्यता प्राप्त सामाजिक लक्ष्य या उद्देश्य होना चाहिए। जो समूह के सदस्यों को प्रोत्साहित कर उन्हें एक-जुट होकर कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

(11) सत्ता

सत्ता सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषता है। सत्ता ही सदस्यों को समूह द्वारा निर्धारित आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करने के लिए बाध्य करती है। सत्ता से प्रेरित होकर सदस्य समूह के नियमों का उल्लंघन करने से बचा रहता है तथा समूह की सत्ता के सामने सदस्य अपने को निम्न समझता है। सत्ता समूह को संगठित रखने का सूत्र है।

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण (Classification of Social Groups)

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण एक टेढ़ी खीर है, विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। इनमें चार्ल्स कूले द्वारा किया गया विभाजन मुख्य है। कूले ने समूहों के वर्गीकरण में पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता को सर्वोपरि स्थान दिया है तथा इसे इसी आधार पर दो समूहों में वर्गीकृत किया है।

1. प्राथमिक समूह
2. द्वितीयक समूह

(1) कूले की प्राथमिक व द्वितीयक समूह की अवधारणा (Cooley's Concept of Primary and Secondary Group)

अमेरिकन समाजशास्त्री चार्ल्स कूले ने 1909 में अपनी पुस्तक 'वबपंस व्हंडर्पेजपवद' में सर्वप्रथम 'प्राथमिक समूह' शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द को प्रचारित करने का उद्देश्य उन समूहों का ज्ञान कराना था जिनमें आमने-सामने के प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाये जाते हैं। जो शिशुओं के पालन-पोषण तथा व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। इन समूहों से भिन्न विशेषताएं रखने वाले समूहों को बाद में 'द्वितीयक समूह' कहा गया। इनमें आमने-सामने के सम्बन्ध तथा घनिष्टता नहीं होती है। कूले ने द्वितीयक समूह के सम्बन्ध में कहा है कि वे समूह जो प्राथमिक नहीं है द्वितीयक कहलायेंगे।

प्राथमिक समूह (Primary Groups)

कूले ने प्राथमिक समूहों को 'मानव स्वभाव की पोषिका' (Nursery of human nature) कहा है। मानव अपने जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में वह किसी प्राथमिक समूह का सदस्य बनकर जन्म लेता है। जिसके द्वारा वह समाज से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी आदतों, प्रवृत्तियों, मूल्यों, स्थायी भावों तथा प्रत्यक्षीकरण की बुनियाद को तैयार कर समाज में अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। अतः मानव के विकास के लिए उसके जन्म से ही समाज मनोविज्ञान की दृष्टि से प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कूले ने प्राथमिक समूह के परिप्रेक्ष्य में उसके अर्थ और प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है "प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषताएँ आमने-सामने का घनिष्ठ संसर्ग और सहयोग है। ये समूह प्राथमिक अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु मुख्य रूप से इस अर्थ में कि यह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। घनिष्ठ संसर्ग का यह परिणाम होता है कि उनमें वैयक्तिकताओं के सामान्य पूर्णता में एक प्रकार का एकीकरण हो जाता है। यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को अनेक प्रायोजनों के लिए समूह के सामान्य जीवन और प्रयोजन में विलीन समझता है। इस सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति करने के लिए सम्भवतः सबसे सरल ढंग यह है कि "हम" शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाए। जिससे उसमें पारस्परिक सहानुभूति और पारस्परिक परिचय तथा अन्तर्सम्बन्ध अत्यधिक गहन हो जाते हैं"।

कूले के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्राथमिक समूहों के सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ और स्थायी होते हैं। इनमें आमने-सामने के प्रत्यक्ष सम्बन्ध होते हैं जैसे परिवार, मित्र, पड़ोस आदि। इनके सदस्य संवेगात्मक रूप से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं तथा इनमें आपस में सहयोग की भावना निहित होती है, इन सदस्यों में मैं के स्थान पर हम की भावना होती है।

प्राथमिक समूहों में प्रत्येक सदस्य का एक निश्चित दृष्टिकोण होता है। प्रत्येक सदस्य अपने समान मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं तथा परम्पराओं का पालन करते हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने इन प्राथमिक समूहों को भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है।

किंग्सले डेविस "प्राथमिक समूह में कुछ मूर्त समूह हैं, जैसे-परिवार, क्रीड़ा समूह, पड़ोसी समूह आदि तथा इन समूहों में आमने-सामने का सम्बन्ध होता है।"

मैकाइवर और पेज "प्राथमिक समूह वे हैं जिनमें आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं। वह प्रत्येक समाज का केन्द्र बिन्दु होता है जिसे हम प्रत्येक जटिल सामाजिक संरचना में देख सकते हैं।"

लुण्डबर्ग "प्राथमिक समूह का तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी और वैयक्तिक ढंग से एक-दूसरे से व्यवहार करते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वास्तव में प्राथमिक समूह उन समूहों को कहा जाता है जिनके सदस्यों में आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं, उनमें परस्पर एकता, सहानुभूति, सहयोग तथा सद्भाव की भावना निहित होती है। प्राथमिक समूह व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

कूले ने परिवार, खेल-समूह तथा पड़ोस को 'प्राथमिक समूह' कहा है। इनकी मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका है। परिवार व्यक्ति के जीवन की प्रमुख इकाई होती है जिसे कूले ने प्राथमिक समूह का

सबसे अच्छा उदाहरण माना है। परिवार के माध्यम से ही बच्चे का सामाजीकरण होता है। परिवार बच्चे की प्राथमिक पाठशाला होती है। तत्पश्चात् वह अपने विकास के साथ-साथ अन्य लोगों से सम्पर्क स्थापित करता है, जिसमें खेल-समूह तथा पड़ोस मुख्य है। बच्चा इनके सम्पर्क में आकर नयी-नयी आदतों, विचारों, मूल्यों, भावनाओं मनोवृत्तियों तथा व्यवहारों को ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये समूह व्यक्ति को आन्तरिक सन्तुष्टि प्रदान करते हैं।

द्वैतीयक समूह (Secondary Group)

जो सामाजिक समूह प्राथमिक समूहों की परिधि से बाहर रह गये उन्हें द्वैतीयक समूह की संज्ञा दी गयी। समाज की जटिलता और अन्तः सम्बन्धों की व्यापकता का परिणाम द्वैतीयक समूह है। इनमें सदस्यों के मध्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं तथा उनमें घनिष्टता, समीपता अपनेपन का पूर्ण अभाव होता है। इनमें सम्बन्ध साधारणतया परस्पर सहायक होने की अपेक्षा प्रतियोगी व प्रतिस्पर्द्धात्मक अधिक होते हैं। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार समाज का आकार बड़ा हो जाने पर सम्बन्धों की प्रत्यक्षता में वृद्धि होती चली, जिसके परिणामस्वरूप द्वैतीयक समूहों का शुभारम्भ हो गया। द्वैतीयक समूहों का आकार बड़ा होता है, इनमें सदस्य संख्या अधिक होने के कारण सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं। ये प्राथमिक समूहों के विपरीत होते हैं। इनमें घनिष्टता का अभाव और औपचारिकता होने के कारण लैण्डिस ने द्वैतीयक समूहों को 'शीत जगत' (cold world) के नाम से सम्बोधित किया है। समुदाय, राष्ट्र, राजनैतिक दल, भीड़, वर्ग, श्रमिक संघ आदि द्वैतीयक समूहों के कुछ उदाहरण हैं।

रॉबर्ट बीरस्टीड के अनुसार "वे सभी समूह द्वैतीयक हैं जो प्राथमिक नहीं हैं।"

किंग्सले डेविस का कथन है कि "द्वैतीयक समूहों को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"

चार्ल्स कूले द्वैतीयक समूह के सम्बन्ध में कहा है कि, "द्वैतीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्टता का पूर्णतया अभाव होता है और सामान्यतः उन विशेषताओं का भी अभाव होता है जो कि अधिकांशतया प्राथमिक और अर्द्ध-प्राथमिक समूहों में पाई जाती हैं।"

आगबर्न और निमकॉफ ने लिखा है, "जो समूह घनिष्टता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें द्वैतीयक समूह कहा जाता है।"

लुण्डबर्ग "द्वैतीयक समूह वह है जिनमें सदस्यों के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित-प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।"

फेयरचाइल्ड के अनुसार "समूह का वह रूप जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की तरह घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह कहलाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि द्वितीयक समूह वे समूह हैं जिनमें हम की भावना का नितान्त अभाव पाया है। यह समूह व्यक्तिगत हितों को पूरा करने के लिए संगठित होते हैं, इनके सम्बन्ध आकस्मिक तथा औपचारिक होते हैं। द्वितीयक समूहों का सदस्य व्यक्ति अपने स्वार्थ पूर्ति या प्रायोजन प्राप्ति के लिए बनता है। वर्तमान आधुनिकरण के युग में व्यक्ति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए द्वितीयक सम्बन्धों का सहारा अधिक ले रहे हैं।

(2) अन्तः समूह और बाह्य समूह (In-group and Out-groups)

इन समूहों का विभाजन मुख्यतः प्रकार्यात्मक है। विलियम जी. समनर 'पससपउ ँण नउदमतद्ध ने अपनी पुस्तक में समूहों के सदस्यों में घनिष्ठता तथा सामाजिक दूरी के आधार पर सभी समूहों को अन्तःऔर बाह्य दो समूहों में विभाजित किया।

अन्तः समूह (In-Group)

अन्तः समूह शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम समनर ने 1907 में किया। इनके अनुसार एक अन्तः समूह वह है जिनके लिए 'हम' शब्द का प्रयोग करते हैं। इनके सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है। समूह के सदस्यों के कल्याण में ही ये अपना व्यक्तिगत कल्याण निहित समझते हैं। उनके हित और समूह के हित सामान होते हैं। अन्तः समूह के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति परस्पर सहयोग, विश्वास, त्याग तथा सम्मान की भावना होती है। अन्तः समूह के सदस्यों, में एकता की भावना व समूह के प्रति निष्ठा पायी जाती है। इनके मध्य समरूपता, समानता और सहिष्णुता होती है।

बाह्य समूह (Out-Group)

बाह्य समूह, अन्तः समूह से पूर्णतया विपरीत होते हैं। इनके सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति विश्वास व सहयोग की भावना नहीं पायी जाती है। इनमें सदस्यों के मध्य अपनत्व तथा हम की भावना नहीं होती है। एक-दूसरे के प्रति परायेपन की भावना पायी जाती है। इस प्रकार बाह्य समूह के लिए 'वे' शब्द का प्रयोग करते हैं।

समनर द्वारा समूहों का यह अन्तः समूह और बाह्य समूह वर्गीकरण व्यक्तिनिष्ठ वर्गीकरण है, क्योंकि यह व्यक्ति को दृष्टि में रखकर किया गया है। तदनु रूप जो समूह एक व्यक्ति के लिए अन्तः समूह हैं, जैसे उसका अपना परिवार, वह किसी अन्य व्यक्ति के लिए बाह्य समूह होगा। इसी प्रकार अन्य व्यक्ति के लिए जो अन्तः समूह होगा वह उस पहले व्यक्ति के लिए बाह्य समूह होगा।

(3) सकारात्मक और नकारात्मक समूह (Positive and Negative Groups)

सकारात्मक तथा नकारात्मक समूहों की अवधारणा न्यूकॉम्ब द्वारा प्रतिपादित की गयी है। न्यूकॉम्ब के अनुसार व्यक्तियों का कुछ समूहों के प्रति अधिक झुकाव होता है। वे सरलतापूर्वक ऐसे समूहों के मूल्यों तथा प्रतिमानों को अवलोकित करते हैं। ऐसे समूह सकारात्मक समूह होते हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर जिन समूहों को व्यक्ति द्वारा पसन्द नहीं किया जाता है। वे उसके मूल्यों तथा प्रतिमानों को सरलतापूर्वक अवलोकित नहीं कर पाते हैं, उन्हें नकारात्मक समूह कहा जाता है।

(4) सदस्यता एवं असदस्यता समूह (Membership or Non-Membership Groups)

राबर्ट के. मर्टन ने सदस्यता एवं असदस्यता समूह के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। मर्टन के अनुसार व्यक्ति परिवार में जन्म लेता है। जन्म के द्वारा वह समूहों का सदस्य बन जाता है, जैसे— जाति, धर्म, गाँव, कस्बा आदि। इन समूहों को सदस्यता समूह के नाम से जाना जाता है। जैसे—जैसे व्यक्ति बड़ा होता है, वह अपनी कुशलता, योग्यता तथा रुचि के आधार पर अन्य दूसरे समूहों जैसे— समूह क्लब या राजनीतिक दल आदि की सदस्यता ग्रहण करता है जो स्थिर नहीं होती हैं। मर्टन ने इन्हें असदस्यता या गैर—असदस्यता समूह कहा है।

(5) जैमिन्सशाफ्ट और जैसिल्सशाफ्ट समूह (Gemeinschaft and Gessellschaft Groups)

एफ. टानीज ने अपनी पुस्तक "Community and association" में जैमिन्सशाफ्ट (समुदाय) और जैसिल्सशाफ्ट (समाज अथवा संघ) के बीच विभेद किया है। घनिष्ठ, निजी, अपवर्जी तथा साथ—साथ रहने वाले समूह को जैमिन्सशाफ्ट माना है। इस प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित समूहों के उदाहरण परिवार, नातेदार, पड़ोस तथा मित्रों का समूह है। जैसिल्सशाफ्ट का सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन है। इसमें व्यक्ति स्वयं जागरूक होकर अपने प्रयासों के द्वारा समाज में सम्बन्ध स्थापित कर प्रवेश होता है। विभिन्न व्यवसायिक संगठन, क्लब आदि इसके उदाहरण हैं।

(6) उदग्र समूह और क्षैतिज समूह (Vertical and Horizontal Groups)

मिलर ने सामाजिक समूहों को उदग्र और क्षैतिज दो वर्गों में विभाजित किया है। विभिन्न खण्डों में विभाजित समूह, जिनके खण्डों में सामाजिक दूरियाँ पायी जाती हैं, ऐसे खण्डों को मिलर ने उदग्र समूह कहा है। इसके अन्तर्गत विभिन्न छोटे समूह आते हैं। वर्ण तथा जाति ऐसे समूह के उदाहरण हैं। इसके विपरीत ऐसे समूह जिनमें सामाजिक समानता एवं सदस्यों की स्थिति एक जैसी होती है, मिलर ने क्षैतिज समूह का नाम दिया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रीय समूह, राजनैतिक पार्टियाँ तथा धार्मिक समूह आदि आते हैं।

(7) औपचारिक और अनौपचारिक समूह (Formal or Informal Groups)

किम्बाल यंग ने सामाजिक समूहों को दो भागों में विभक्त किया है : औपचारिक समूह वह समूह है जो व्यवस्थित और संगठित होता है। इस समूह का आकार स्थान, उद्देश्य, नेता, सदस्य आदि पूर्व निर्धारित होते हैं। अतः ये समूह कुछ निश्चित नियमों पर आधारित होता है। जबकि अनौपचारिक समूह में व्यवस्था और संगठन का पूरी तरह अभाव होता है। इस समूह का आकार, समय, स्थान, सदस्य, नेता, उद्देश्य कार्यविधि आदि कुछ भी पूर्व निर्धारित नहीं होते, सभी कुछ आकस्मिक होता है।

7.3 सारांश (Summary)

इस इकाई से सामाजिक समूहों की विशेषता, वर्गीकरण एवं प्रकार को सहज एवं सरल रूप में अभिव्यक्ति किया गया है। इस इकाई में सामाजिक समूहों के निर्माण की आवश्यकता एवं महत्व को भी दर्शाया गया है।

7.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. सामाजिक समूह क्या है इसे वर्गीकृत कीजिए।
2. सामाजिक समूह को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रकार बताइये।
3. सामाजिक समूह के प्रकार एवं विशेषताएं बताइये।

7.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Anderson, society.
2. G.A. Lundberg and others, Sociology.
3. "Any Group is constituted by the fact that there is some interest which holds its member together;"- Edward Sapir, 'Group', Encyclopedia of Social Sciences.
4. Kingslay Davis, Human Society.
5. "Socialization is the process by which the child acquires a cultural content along with selfhood and personality."- A.W.Green, Sociology.

समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य (Objectives)

8.1 प्रस्तावना (Preface)

8.2 समाजीकरण (Socialization)

8.3 सारांश (Summary)

8.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

8.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

8.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा के बारे में जान सकेंगे।
- समाजीकरण के निर्धारक एवं सिद्धान्त के बारे में भी विस्तार से जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण के बारे में बताया गया है। समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का कियात्मक सदस्य बनता है तथा समूह के नियमों परम्पराओं को सीखता है इस इकाई समाजीकरणों के निर्धारक तत्वों को भी बताया गया है।

8.2 सामाजीकरण (Socialization)

अर्थ एवं परिभाषाएं (Meaning and Definitions)

सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणीशास्त्रीय प्राणी में सामाजिक गुणों का विकास किया जाता है। सामाजीकरण सामाजिक जीवन के ढंग को सीखने-सिखाने की एक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा बच्चा आयु बढ़ने के साथ-साथ समाज के अन्य दूसरे व्यक्तियों की भांति सामाजिक व्यवहार का अधिगम

करता है। मानव के शरीर रूपी ढाँचे में समाज के मूल्यों, रीति-रिवाजों, नियमों तथा गुणों व व्यवहारों को समाहित कर उसे समाज के अनुरूप बनाया जाता है। व्यक्ति के सीख की इस प्रक्रिया को सामाजीकरण कहते हैं।

व्यक्ति के सामाजीकरण के द्वारा ही मानव को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मानव अपने स्वस्थ सम्बन्धों और अन्तर्क्रियाओं के माध्यम से समाज का निर्माण करते हैं। समाज के मूल्यों, नीतियों, रीति-रिवाजों, गुणों व व्यवहारों को ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया को सामाजीकरण कहते हैं। इसको विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है।

गिलिन और गिलिन ने सामाजीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि “सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का एक क्रियात्मक सदस्य बनता है, समूह के स्तर के अनुसार कार्य करता है। उसके लोकाचार परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना समन्वय स्थापित करता है।”

मैकाइवर ने सामाजीकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “सामाजीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक प्राणी एक दूसरे के साथ अपने व्यापक और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिसमें वे एक-दूसरे से अधिकाधिक बँध जाते हैं और एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की भावना का विकास करते हैं, जिसमें वे अपने एवं दूसरों के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझने लगते हैं तथा जिसमें वे निकटतर एवं अधिक विस्तृत साहचर्य की जटिल संरचना का निर्माण करते हैं।”

किम्बाल यंग ने सामाजीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है, “सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं साँस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है तथा जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जैविकीय प्राणी को सामाजिक सीख द्वारा सामाजिक प्राणी में परिवर्तित किया जाता है। उसमें समाज के मूल्यों, नियमों, परम्पराओं तथा लोकाचारों आदि की सीख दी जाती है जिसके द्वारा मानव अपने व्यवहारों को विकसित कर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है तथा समाज का एक उत्तरदायी सदस्य बनता है।

स्तर (Stages)

सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक स्तर पर जन्म से मृत्यु तक चलती रहती है। मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने इसे विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। ये प्रक्रिया व्यक्ति की बाल्यावस्था से आरम्भ होकर उसके जीवन की अन्तिम अवस्था तक चलती रहती है। फ्रायड के अनुसार, “व्यक्ति अपने जीवन

के विभिन्न चरणों में अनेक तरह की भग्नाशाओं से घिरा होता है, इससे अपने को मुक्त करने के लिए सामाजिक परिस्थितियों से समायोजन करने का प्रयास करता है। समायोजन की इस प्रक्रिया को सामाजीकरण कहते हैं।" सामाजीकरण की प्रक्रिया को निम्न 4 चरणों में विभाजित किया जा सकता है:

(i) मौखिक अवस्था

यह अवस्था बच्चे में जन्म के समय से प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में बच्चे की सभी आवश्यकताएँ केवल शारीरिक और मौखिक होती हैं तथा बच्चा इसमें अपनी भूख पर कुछ नियन्त्रण रखना सीख जाता है और वह इच्छाओं की पूर्ति के लिए निर्देश की प्रक्रिया सीखता है। इस अवस्था में वह अपनी माँ के साथ ही पूरी तरह से समायोजन स्थापित करता है। सामाजीकरण का यह स्तर साधारणतया आयु के एक-डेढ़ वर्ष तक ही रहता है।

(ii) शैशव अवस्था

मौखिक अवस्था के पश्चात् शैशव अवस्था प्रारम्भ होती है। यह अवस्था साधारणतया एक-डेढ़ वर्ष से प्रारम्भ होकर तीन वर्ष तक चलती है। इसमें बच्चा कुछ नई इच्छाओं और परिस्थितियों के विकसित होने के परिणामस्वरूप अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को दूसरों के साथ बाँटना सीखता है।

(iii) अव्यक्त अवस्था

यह अवस्था 4 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर 13 से 14 वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवधि में बच्चे के सामाजिक पर्यावरण का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है। माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त वह अपने मित्र समूहों, खेल-समूह, आस-पड़ोस, शिक्षकों तथा अन्य सदस्यों के व्यवहारों से प्रभावित होने लगता है। बच्चे का सामाजिक विकास इस अवधि में तीव्र गति से होता है। यह अवस्था बच्चे की सामाजिक अभिवृत्तियों के प्रभाव को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है।

(iv) किशोरावस्था और सामाजीकरण

किशोरावस्था का प्रारम्भ लगभग 12 से 14 की आयु से लेकर 21 वर्ष की आयु तक होता है। इस अवधि में किशोरों का सामाजिक पर्यावरण और अधिक विस्तृत हो जाता है तथा वे अधिक स्वतन्त्रता की मांग करने लगते हैं, परिवार के सदस्यों द्वारा लगाये गये नियन्त्रण से मुक्त होने की इच्छा रखते हैं, परन्तु उसे वह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। परिवार तथा समाज द्वारा उसके व्यवहारों पर कुछ नियन्त्रण अवश्य होता है जो उसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए स्वयं के बारे में निर्णय लेने के लिए बाध्य करता है जिसके कारण वे तनाव महसूस करते हैं। किशोरावस्था में सामाजिक क्रियाएं अपने चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं। किशोर अधिकांश समय घर से बाहर अपने साथी समूह में रहना पसन्द

करता है। इस अवस्था में उसकी अभिवृत्तियाँ, रुचियाँ, मूल्य और व्यवहार आदि पर परिवार की अपेक्षा उसकी सामाजिक क्रियाओं और साथी समूह का अधिक प्रभाव पड़ता है।

इन स्तरों के समाप्त होने के पश्चात् भी व्यक्ति का सामाजीकरण किसी न किसी रूप में जीवन-पर्यन्त चलता है। ये सभी स्तर सामाजीकरण की प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी होते हैं, जो व्यक्ति को समाज का अच्छा तथा सभ्य नागरिक बनाते हैं।

निर्धारक (Determinants)

समाज में व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से आरम्भ हो जाती है। बाल्यावस्था में उसमें सामाजिक तत्वों का अभाव होता है। धीरे-धीरे उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ उसका सामाजिक विकास भी होने लगता है। वह अपने को समाज के अनुकूल बनाकर अपने अन्दर आत्म की भावना को जागृत करता है। वह विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल अपने व्यवहार को नियन्त्रित कर व्यक्तित्व का विकास करता है जिसके लिए सामाजीकरण की प्रक्रिया उत्तरदायी होती है। सामाजीकरण के निर्धारण में निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं:

(1) बच्चे का पालन-पोषण

व्यक्ति के सामाजीकरण के लिए बाल्यावस्था में बच्चे का पालन-पोषण की मुख्य भूमिका होती है। बच्चे का सामाजीकरण सर्वप्रथम उसके माता-पिता या उसके पालनकर्ता द्वारा होता है। बच्चा बाल्यावस्था में माता-पिता द्वारा जिस प्रकार के सामाजिक गुणों, व्यवहारों, आचरणों को ग्रहण करता है वे जीवन पर्यन्त उसके व्यवहारों को प्रभावित करते हैं।

(2) सामाजिक सीख

बच्चे में सामाजिक गुणों का विकास करने के लिए सामाजिक सीख की प्रक्रिया आवश्यक है। बाल्यावस्था से ही बच्चे में किसी भी प्रकार के आचरण, व्यवहार तथा समझ को सीख द्वारा विकसित किया जाता है। सीख के माध्यम से बच्चे में उचित तथा अनुचित के मध्य अन्तर करने की समझ पैदा की जाती है। जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल बनाता है। सामाजीकरण सामाजिक सीख की ही एक प्रक्रिया है।

(3) सहानुभूति

बच्चे बाल्यावस्था में अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरो के ऊपर पूर्णतया निर्भर रहते हैं। साथ ही साथ वह दूसरे से सहानुभूति पाने का प्रयत्न करता है। सहानुभूति से बच्चे में अपनेपन की भावना का विकास होता है तथा वह अपने और पराये के मध्य अन्तर को समझने लगता है।

(4) सुझाव

बच्चे के सामाजीकरण में सुझाव भी महत्वपूर्ण ढंग से अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। बच्चों में बाल्यकाल में दूसरों के सुझावों को अपनाने की क्षमता अधिक होती है। माता-पिता, परिवार, शिक्षक, मित्र इत्यादि द्वारा दिये गए अच्छे सुझाव बच्चे के सामाजीकरण में सहायक होते हैं तथा उनमें सामाजिक व्यवहारों के अनुरूप व्यवहार करने की समझ पैदा करते हैं।

(5) आत्मीयकरण

बच्चे अपने माता-पिता व परिवार आदि से सहानुभूति प्राप्त करता है जिससे उसमें आत्मीकरण की भावना उत्पन्न होती है। आत्मीकरण के द्वारा व्यक्ति को जिन व्यक्तियों से स्नेह व सहानुभूति प्राप्त होती है उनसे वे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें अपना समझने लगता है।

(6) प्रेरणा

बच्चों के सामाजीकरण या उन्हें सामाजिक व्यवहार की सीख देने के लिए उन्हें प्रेरित करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति के अच्छे कार्यों को करने के लिए उन्हें प्रेरित करने से वह उन कार्यों को अधिक लगन से करके आनन्द की अनुभूति करता है।

(7) संस्कृति

संस्कृति व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार और व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। बच्चे के पालन-पोषण और सामाजीकरण में संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक होता है। व्यक्ति की संस्कृति के अनुसार ही उसका सामाजिक व्यवहार होता है।

(8) पारस्परिक व्यवहार व सम्प्रेषण

एक-दूसरे से पारस्परिक व्यवहार व सम्प्रेषण द्वारा बच्चा समाज के स्वीकृत सामाजिक व्यवहारों, भूमिकाओं को सीखता है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं।

(9) सहयोग

सामाजीकरण की प्रक्रिया सहयोग पर आधारित है। सहयोग व्यक्ति में एकता की भावना का विकास कर व्यक्तियों की सामाजिक प्रवृत्तियों को संगठित करता है।

(10) दंड एवं पुरस्कार

व्यक्ति के अच्छे व्यवहार पर वह प्रशंसा या पुरस्कार प्राप्त करता है वहीं इसके विपरीत उसके दुर्व्यवहार के लिए उसे दण्डित किया जाता है। दोनों कारकों की सामाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका है। पुरस्कार व दण्ड के फलस्वरूप बच्चा वह कार्य करना सीख जाता है जो कि उसके माता-पिता तथा समाज के अन्य व्यक्ति उससे अपेक्षा करते हैं।

सिद्धान्त (Theory)

मानव के बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक उसके सामाजीकरण में बहुत से अभिकरण या साधन अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। बाल्यावस्था में बचपे में सामाजीकरण की भावना का विकास करने में उसमें 'आत्म' की भावना का विकास, मनोवैज्ञानिक तथ्य, व्यवहारों को अनुकरण करने की क्षमता आदि तथ्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं जिसे दुर्खीम, कूले, मीड, फ्रायड आदि समाजशास्त्रियों ने सिद्धान्तों के रूप में स्पष्ट किया है, जो निम्नलिखित हैं:

दुर्खीम का सिद्धान्त

दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त सामूहिक प्रतिनिधित्व या सामूहिक चेतना के आधार पर सामाजीकरण की प्रक्रिया को अपनी पुस्तक 'Sociology and Philosophy' में स्पष्ट किया है। इसमें दुर्खीम ने आदर्शवादी अवधारणा के साथ सामूहिक प्रतिनिधित्व को अत्यधिक महत्व दिया है।

दुर्खीम के अनुसार प्रत्येक समाज के कुछ मूल्य, संवेग, धारणाएँ, भावनाएँ, आदतें और अभिवृत्तियाँ आदि होती हैं जिसकी उत्पत्ति चेतना द्वारा होती है जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत होती है ये व्यक्ति इन्हीं के अनुसार व्यवहार करते हैं। आरम्भ में व्यक्ति का यह व्यवहार सामाजिक सम्बन्धों के अस्तित्व से स्वतन्त्र होता है जिसे दुर्खीम ने वैयक्तिक प्रतिनिधित्व की धारणा से सम्बन्धित किया है। समाज में धीरे-धीरे सदस्यों द्वारा आपस में अन्तर्क्रिया करने से सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से प्रभावित होता है जिससे सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। इस सामूहिक चेतना से उत्पन्न होने वाले विचारों तथा धारणाओं को दुर्खीम ने 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' कहा है। दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक प्रतिनिधित्व सामाजिक मूल्य का मुख्य कारक है। यह सदस्यों को समान व्यवहार करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। समाज की सभी संस्थाएँ सामाजिक मूल्य तथा व्यवहार के सामाजिक प्रतिमान दुर्खीम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधित्व के उदाहरण हैं तथा जिनके अनुसार कार्य करना समाज के सभी सदस्य अपना नैतिक कर्तव्य समझते हैं।

सामूहिक प्रतिनिधित्व समाज के सभी सदस्यों द्वारा मान्य होते हैं, दुर्खीम के शब्दों में "सामूहिक प्रतिनिधित्व विस्तृत सहयोग का परिणाम है, जो न केवल स्थान में बल्कि समय में भी फैला होता है, उनके निर्माण के लिए असंख्य मस्तिष्कों ने सम्पर्क किया है, अपने विचारों और भावनाओं को संगठित और संकलित किया है, उनके लिए लम्बी पीढ़ियों ने अनुभव और ज्ञान का संचय किया है।" सामूहिक

प्रतिनिधित्व समाज के अधिकांश लोगों द्वारा नैतिक दबाव तथा बाध्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार सामूहिक बल के कारण यह अत्यधिक प्रभावशाली होता है।

दुर्खीम के अनुसार सामाजिक प्रतिनिधित्व जिसके अन्तर्गत समाज के मूल्य, संवेग, भावनाएँ, नियम, विश्वास, विचार, आदतें तथा अभिवृत्तियाँ आदि के पीछे जो सामूहिक बल या दबाव होता है उसके कारण व्यक्ति इनको मात्र स्वीकृत नहीं करते बल्कि इन्हें अपने व्यवहार में अपनाना भी सीखते हैं, जो उनके व्यक्तित्व विकास का गुण बनते हैं। अतः सामूहिक प्रतिनिधित्व व्यक्ति में समाज के अनुकूल व्यवहार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सामाजीकरण के उद्देश्यों को पूरा करते हैं।

सामूहिक प्रतिनिधित्व की उपयोगिता समाप्त होने पर भी समाज में उनका अस्तित्व सदा बना रहता है। समाज में व्यक्ति का उचित सामाजीकरण होने पर उसका व्यवहार सामूहिक प्रतिनिधित्व से प्रभावित रहता है तथा इन सामूहिक प्रतिनिधित्वों के सामने उसके वैयक्तिक प्रतिनिधित्व की भूमिका का स्थान कमजोर होता है। दुर्खीम के सिद्धान्तानुसार सामूहिक प्रतिनिधित्व लोगों को प्रभावित कर उन्हें समाज के अनुकूल बनाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

कूले का सामाजीकरण का सिद्धान्त

चार्ल्स कूले के सिद्धान्त को 'आत्मदर्पण का सिद्धान्त' के नाम से भी जाना जाता है। प्रख्यात अमेरिकी समाजशास्त्री कूले ने प्रकृति के सम्बन्ध में अपने विचार 'Human Nature and Social Order' नामक अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्त में समाज तथा व्यक्ति के मूल पारस्परिक सम्बन्धों को उनके मूल्यांकन के आधार पर स्पष्ट किया है।

कूले के अनुसार मानव प्रकृति का मुख्य आधार पारस्परिक सम्पर्क है। समाज तथा व्यक्ति एक दूसरे के परिपूरक हैं। मानव जीवन के विविध अंशों द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। सम्पर्क के माध्यम से व्यक्ति को अनेक नवीन प्रकार के ज्ञान तथा अनुभव होते हैं। वह एक-दूसरे के विचारों, मूल्यों, संवेगों आदि को समझता है उसी के आधार पर दूसरे के द्वारा स्वयं के बारे में 'धारणा' निर्धारित कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने का प्रयास करता है। जिस प्रकार व्यक्ति दर्पण में देखकर अपना साज श्रृंगार कर अपने को संवारता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज रूपी दर्पण में दूसरों के द्वारा उसके विषय में की गयी प्रतिक्रिया द्वारा अपने सम्बन्ध में राय निर्धारित करता है, उसी राय के आधार पर स्वयं के सम्बन्ध में दूसरे के विचारों का मूल्यांकन कर श्रेष्ठता या हीनता का अनुभव करता है। जैसे किसी बालिका के लिए घर के सभी सदस्य कहते हैं कि वह देखने में सुन्दर है तो वह बालिका अपने को अत्यधिक सुन्दर समझने लगती है तथा बचपन से ही अपने को और सुन्दर दिखने के लिए साज-सज्जा करने लगती है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति दूसरों के द्वारा स्वयं के बारे में सदैव यही सुनता है कि वह अपने जीवन में सफल नहीं हो सकता तो धीरे-धीरे वह व्यक्ति स्वयं को असफल समझने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति दूसरे के द्वारा की गयी प्रतिक्रिया

के अनुसार अपने 'आत्म' का निर्माण करता है। दूसरों के दृष्टिकोणों द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने लगता है तथा अपने सम्बन्ध में धारणा निर्धारित कर लेता है। कूले के अनुसार 'आत्म' विचारों की वह व्यवस्था है जो संचार के द्वारा उत्पन्न होती है और हमारा मस्तिष्क उसे 'अपना' समझकर सदैव अपनाने के लिए तैयार रहता है।

कूले के सिद्धान्त को 'आत्मदर्पण का सिद्धान्त' इसलिए कहा गया है क्योंकि व्यक्ति समाज रूपी आइने में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसी के अनुरूप अपने 'आत्म' या व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। 'आत्म' का विकास व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। 'आत्म' रूपी दर्पण व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण होता है। इसमें व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपना व्यक्तित्व विकसित करता है। व्यक्ति में 'आत्म' का जितना समुचित या अच्छा विकास होगा व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया भी उतनी ही प्रभावी होगी। अतः कूले के अनुसार आत्मा और समाज दोनों साथ-साथ उत्पन्न हुए हैं। समाज में पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है जो उसको सामाजीकरण की प्रक्रिया की ओर प्रेरित करता है।

मीड का सामाजीकरण का सिद्धान्त

प्रसिद्ध अमेरिकी समाज वैज्ञानिक जार्ज एच. मीड ने सामाजीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार 'इडपदक एंड मसिंदक' 'वर्षमजल' नामक पुस्तक में दिये हैं। मीड और कूले के विचारों में कुछ हद तक समानता प्रतीत होती है। कूले ने अपने सिद्धान्त में 'आत्म' के विकास या व्यक्ति के सामाजीकरण में जहाँ व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को उत्तरदायी माना है वहीं मीड ने व्यक्ति के सामाजीकरण के लिए मानव की अपेक्षा समाज को उत्तरदायी माना है। मीड के अनुसार सामाजीकरण में आत्म-चेतना का स्थान महत्वपूर्ण है। ये आत्म-चेतना की उत्पत्ति समाज द्वारा होती है। व्यक्ति जब समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, उनमें परस्पर अन्तर्क्रिया होती है तो व्यक्तियों में इस अन्तर्क्रिया से स्वयं के प्रति चेतना उत्पन्न होती है जो समाज के लिए भी चेतनशील होता है। मीड ने व्यक्ति की आत्म-चेतना को सामाजिक सिद्ध करने के लिए मानव के दो स्वरूपों का वर्णन किया है: (1) जैविकीय व्यक्ति तथा (2) सामाजिक रूप से आत्म चेतन व्यक्ति। जन्म के समय मनुष्य विशुद्ध जैविकीय होता है उसकी जैविकीय प्रवृत्तियाँ समाज के सम्पर्क में आने पर सामाजिक हो जाती हैं। माता-पिता, परिवार तथा अन्य प्राथमिक समूहों से सामाजिक अन्तर्क्रिया करने पर उसकी तार्किक बुद्धि का विकास होने लगता है। वह दूसरों की सोच के अनुसार अपने व्यवहारों को विकसित करने लगता है। जिससे धीरे-धीरे बच्चे का आत्म दूसरे लोगों के व्यवहारों से प्रभावित होने लगता है। मीड ने लोगों से प्रभावित इस व्यवहार को ही 'सामान्यीकृत व्यवहार' कहा है जो बच्चे को 'सामाजिक रूप से आत्मचेतन व्यक्ति' के रूप में परिवर्तित करता है।

मीड के सिद्धान्त को 'मैं' और 'मुझे' का सिद्धान्त भी कहा जाता है। मीड के अनुसार बच्चे में 'आत्म' का विकास तब होता है जब वह 'मैं' और 'मुझे' के मध्य अन्तर करने लग जाता है। 'मैं' 'आत्म' का वह

तत्व है जो क्रिया और भावना को व्यक्त करता है। इसका अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरे के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है। 'मुझे' का अर्थ व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया है। 'मुझे' का निर्माण माता-पिता, परिवारजन, गुरुजन, मित्र आदि लोगों से ग्रहण किये गये विचारों, भावनाओं, धारणाओं और कार्यों के आधार पर होता है। 'मुझे' की निर्माण प्रक्रिया में बच्चा अनेक सामाजिक व्यवहारों को भी सीखता है। 'मैं' और 'मुझे' दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इन दोनों से मिलकर 'आत्म' का विकास होता है, जहाँ से सामाजीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। मीड के अनुसार बच्चा बाल्यावस्था से ही अपने माता-पिता तथा प्राथमिक समूह द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों से प्रभावित होने लगता है लेकिन उसमें 'आत्म' का विकास उस परिस्थिति में होता है जब वह समूह में अन्य बच्चों के साथ खेलते हुए उन पर नियंत्रण रखता है या खेल में किसी विशेष भूमिकाओं को निभाता है। इन क्रियाओं से वह स्वयं के बारे में विशेष धारणा बना लेता है। उसकी यह धारणा अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होती है। जो बच्चे के 'आत्म' के रूप में विकसित होकर उसकी सामाजीकरण की प्रक्रिया में भूमिका अदा करती है।

मीड के अनुसार बाल्यावस्था में मनुष्य विभिन्न संकेतों और चेष्टाओं द्वारा अपनी आवश्यकताओं को अभिव्यक्त करता है। धीरे-धीरे शारीरिक तथा मानसिक विकास-क्रम में भाषा का प्रयोग सीख कर विभिन्न शब्दों के अर्थों को समझने लगता है तथा दूसरों के व्यवहार और विचारों से प्रभावित होने लगता है। व्यक्ति स्वयं के बारे में अपने तथा दूसरों के दृष्टिकोण से प्रेरित होकर धारणा बनाता है जहाँ से उसका 'आत्म' विकसित होकर सामाजीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार मीड के अनुसार आत्म विकास, जैविकीय प्रवृत्ति तथा अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण से व्यक्ति का सामाजीकरण होता है।

(3) फ्रायड का सामाजीकरण का सिद्धान्त

फ्रायड का सिद्धान्त मनोविश्लेषणात्मक है। उनके अनुसार मानव व्यवहार मानव प्रकृति या स्वभाव की कुछ मूल पूर्वकल्पनाओं पर आधारित है। मनुष्य के व्यक्तित्व को दो विरोधी शक्तियाँ प्रेम तथा घृणा प्रभावित करती हैं। प्रेम मनुष्यों के विचारों तथा इच्छाओं को सामाजिक बना कर उसे जीवन शक्ति प्रदान करती है इस कारण इसे जीवन मूल प्रवृत्ति कहते हैं, जबकि घृणा से मन में रहने वाले विचार एवं इच्छाओं का स्वरूप असामाजिक तथा अनैतिक बनता है जो व्यक्ति में विध्वसात्मक शक्ति को जन्म देती है इस कारण इसे मृत्यु मूल प्रवृत्ति कहते हैं। जीवन मूल प्रवृत्ति का कार्य व्यक्ति में रचनात्मक क्रियाओं को सम्पन्न करना है। मृत्यु मूल प्रवृत्ति का कार्य ध्वंसात्मक क्रियाओं को करना है। जब व्यक्ति में विध्वसात्मक शक्ति अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती है तो उसमें असुरक्षा, भय, तनाव और चिन्ता के तत्व प्रबल हो जाते हैं। व्यक्ति के व्यवहार में सन्तुलन लाने तथा उचित व्यक्तित्व विकास और सामाजीकरण के लिए दोनों शक्तियों के मध्य सामंजस्य नितान्त आवश्यक है। फ्रायड ने व्यक्तित्व की संरचना का वर्णन दो मॉडल में किया है।

(1) आकारात्मक मॉडल

(2) गत्यात्मक मॉडल

8.3 सारांश (Summary)

इस इकाई में समाजीकरण का अर्थ, परिभाषा एवं सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप से समझाने का प्रयास किया गया है। समाजीकरण के निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं? इसके बारे में भी विशद वर्णन है।

8.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. समाजीकरण के प्रमुख निर्धारक क्या हैं ?
2. समाजीकरण के दुर्खीम के सिद्धान्त को बताइये।

8.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Anderson, society.
2. G.A. Lundberg and others, Sociology.
3. Kingslay Davis, Human Society.
4. "Socialization is the process by which the child acquires a cultural content along with selfhood and personality."- A.W.Green, Sociology.

सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण

इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य (Objectives)
- 9.1 प्रस्तावना (Preface)
- 9.2 सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification)
- 9.3 सामाजिक विभेदीकरण (Social Differentiation)
- 9.4 जाति एवं वर्ग (Caste and Class)
- 9.5 सारांश (Summary)
- 9.6 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)
- 9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

9.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण का अर्थ एवं परिभाषाओं के बारे में जान सकेंगे।
- जाति एवं वर्ग से परिचित हो सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण, जाति एवं वर्ग के बारे में बताया गया है। सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण के बीच अंतर्निहित तत्वों तथा जाति एवं वर्ग के बीच मूलभूत अंतर को समझाया गया है।

9.2 सामाजिक स्तरीकरण

अर्थ

सामाजिक स्तरीकरण वह सामाजिक व्यवस्था है जो समाज के विभिन्न समूहों को स्तरों में विभाजित कर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने का प्रयास करती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का उसकी निपुणता, कार्यक्षमता तथा शारीरिक शक्ति के अनुसार उसकी स्थिति तथा कार्यों का निर्धारण होता है। निर्धारण की इस प्रक्रिया को ही सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत समाज अपने सदस्यों के विभिन्न समूहों को उनकी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उच्च व निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत कर सामाजिक व्यवस्था के संगठन को बनाए रखने का प्रयत्न करता है। समाज की सामाजिक संरचना में प्रत्येक समूह का चाहे वह उच्च श्रेणी का हो या निम्न श्रेणी का, एक निश्चित स्थान होता है। उसी के अनुसार उन्हें समाज में अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज में विभिन्न समूहों की मात्र प्रस्थिति व भूमिका का निर्धारण ही नहीं करता बल्कि उनके सामाजिक अधिकारों, शक्ति, सत्ता व निर्योग्यताओं को भी विभाजित करने की एक प्रक्रिया है।

परिभाषाएं

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है:

रेमण्ड मूरे ने स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि “सामाजिक स्तरीकरण समाज का उच्च तथा निम्न सामाजिक इकाइयों में किया गया एक क्षैतिज विभाजन है।”

पी.जिस्बर्ट के अनुसार “सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों और श्रेणियों में विभाजित कर देने की व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत सभी समूह और श्रेणियाँ उच्चता तथा अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर बँधी होती हैं।”

किंग्सले डेविस ने स्तरीकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि “सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ साधारणतः उन समूहों से लगाया जाता है जो सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न स्थितियों को धारण किये हुए हैं।”

डेविस की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण की समस्या सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत पायी जाने वाली विभिन्न सामाजिक स्थितियों के कारण होती है।

सदरलैण्ड और वुडवर्ड के अनुसार, “स्तरीकरण केवल अन्तर्क्रियाओं या विभेदीकरण की ही एक प्रक्रिया है जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती है।”

ऑगबर्न और निमकॉफ ने स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि “स्तरीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिससे व्यक्ति तथा समूह एक स्थिर स्थिति की क्रमबद्धता में बाँटे जाते हैं।”

टॉलकाट पारसन्स स्तरीकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि “सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे तथा नीचे क्रम—विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।” पारसन्स ने स्तरीकरण के अन्तर्गत समाज व्यवस्था में प्रस्थितियों के क्रम—विन्यास को महत्वपूर्ण माना है। व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण हेतु कुछ कारकों को पारसन्स ने उपयोगी माना है जो स्तरीकरण को भी निर्धारित करते हैं। वे कारक निम्नलिखित हैं—

(i) व्यक्तिगत विशेषताएं

(ii) नातेदारी समूह की सदस्यता

(iii) सत्ता

(iv) शक्ति

(v) अर्जित उपलब्धियाँ

(vi) द्रव्यजात

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज के सदस्यों को उनकी योग्यता, कार्यक्षमता तथा सामाजिक मूल्यों एवं नियमों के अनुसार उच्च तथा निम्न इकाइयों में विभाजित करने वाली व्यवस्था है। सामाजिक स्तरीकरण समाज में व्यक्तियों का इकाइयों में विभाजन के अनुसार ही सामाजिक संरचना में उनकी प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है तथा सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित बनाए रखने का प्रयास करती है।

9.3 सामाजिक विभेदीकरण

अर्थ

सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा या प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक विभेदीकरण को स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। स्तरीकरण तथा विभेदीकरण दोनों ही समाज को विभिन्न इकाइयों में विभाजित करती है तथा एक—दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी इनकी अवधारणाएँ परस्पर भिन्न—भिन्न हैं। सामाजिक विभेदीकरण के बिना सामाजिक स्तरीकरण का विकास नहीं है।

सामाजिक विभेदीकरण सामाजिक भिन्नताओं से सम्बन्धित एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्तियों तथा समूहों की भिन्नता कुछ मूर्त आधारों पर स्पष्ट होती है जैसे यदि एक समूह में सभी व्यक्ति आयु, लिंग, धर्म, प्रजाति, भाषा, शिक्षा, सम्पत्ति आदि के आधार पर एक—दूसरे से पृथक हो तथा अनेक वर्गों

में विभाजित हों लेकिन उनके मध्य ऊँच—नीच की इकाइयों का विभाजन न हो तो समूहों तथा व्यक्तियों के मध्य किये इस विभाजन को हम सामाजिक विभेदीकरण कहते हैं।

परिभाषाएं

सामाजिक विभेदीकरण के सम्बन्ध में कुछ समाजशास्त्रियों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

मार्टिन न्यूमेयर ने विभेदीकरण के सम्बन्ध में लिखा है “सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जो अनेक जैविकीय, आनुवांशिक तथा भौतिक विशेषताओं जैसे—आयु, लिंग, प्रजाति, वंश, व्यवसाय, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक स्थिति, उपलब्धियों, समूह की रचना तथा सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर व्यक्तियों तथा समूहों के बीच विभिन्नता को स्पष्ट करती है। इस प्रकार सामाजिक भिन्नताएँ विभेदीकरण की प्रक्रिया का आधार भी हैं और उपज भी।”

फेडरिक लूम्ले के अनुसार, “विभेदीकरण समाज की वह प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों की पारस्परिक भिन्नता प्रकट होती है, एक आर्केस्ट्रा के विभिन्न वादकों के योग से जिस भाँति एक समन्वयपूर्ण इकाई की रचना होती है ठीक उसी प्रकार विभेदपूर्ण व्यक्तियों का योग सामाजिक इकाई की रचना करता है।”

अतः उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक विभेदीकरण का अर्थ समाज के अन्दर विद्यमान विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक विभिन्नताओं से है। ये विभिन्नताएँ मुख्य रूप से जैविकीय, (जैसे— आयु, लिंग, प्रजाति आदि) सामाजिक तथा धार्मिक आधारों जैसे वर्ग, धर्म, व्यवसाय तथा संस्कृति, शिक्षा आदि पर आधारित होती हैं।

3.6 जाति एवं वर्ग (Caste and Class)

मानव समाज अत्यन्त जटिल समाज है। इस समाज में व्यक्तियों में भिन्न—भिन्न योजनाएँ, क्षमताएँ तथा विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो उन्हें एक—दूसरे से पृथक कर समाज में उनकी प्रस्थिति व भूमिका का निर्धारण करती हैं। जिसके अनुसार उन्हें समाज में उच्च तथा निम्न स्थान प्राप्त होता है। जिसे सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। जाति व वर्ग इसके प्रधान रूप हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की प्रणालियों में जाति व्यवस्था अद्वितीय है। यह वर्ण व्यवस्था की देन है। भारतीय सामाजिक संस्थाओं में जाति को एक विशेष स्थान प्राप्त है। भारत जाति और सम्प्रदायों की जन्म स्थली है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए जाति को समझना आवश्यक है। जाति सर्वव्यापक है। यह हिन्दू सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आधार है।

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के 'caste' शब्द का रूपान्तरण है। 'caste' शब्द पुर्तगाली भाषा के 'casta' शब्द से बना है। 'casta' का शाब्दिक अर्थ 'प्रजाति', 'जन्म' या 'भेद' है। 'casta' का लैटिन भाषा के 'castus' शब्द से गहरा सम्बन्ध है, जिसका अर्थ 'विशुद्ध' या 'अमिश्रित' या 'जाति' है। इस प्रकार जाति का अर्थ वंशानुक्रमण पर आधारित एक विशेष सामाजिक समूह से लगाया जाता है। अतः इस प्रकार जाति जन्मगत भेद पर आधारित एक व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्तियों का उनके जन्म के आधार पर सदस्यता निर्धारित होती है।

जाति भारतीय सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार है। इससे हमारा सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पूर्णतया प्रभावित रहता है। वर्तमान में भारत में लगभग तीन हजार जातियाँ और उपजातियाँ हैं। किंग्सले डेविस के अनुसार "जाति-व्यवस्था संसार के सभी स्थानों पर विद्यमान है और यह सभी धर्मों के व्यक्तियों को प्रभावित करती है।"

जाति की परिभाषाएं

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने जाति को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है :

डा. मजूमदार और मदान के अनुसार "जाति एक बन्द वर्ग है।" आपके अनुसार, जाति व्यक्तियों का ऐसा वर्ग है जिसमें व्यक्ति आजीवन एक जाति का सदस्य बनने के उपरान्त व्यक्ति अपनी स्थिति में परिवर्तन नहीं कर सकता है।

सी. एच. कूले के अनुसार "जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे हम एक

हॉबेल ने जाति के परिप्रेक्ष्य में कहा है कि "अन्तर्विवाह तथा आनुवांशिक पद के द्वारा प्रदत्त स्थिति की सहायता से सामाजिक वर्गों को जन्म देना ही जाति है।"

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "जब प्रतिष्ठा पूर्व निर्धारित होती है जिससे मनुष्य बिना किसी परिवर्तन की आशा से अपना भाग्य लेकर उत्पन्न होते हैं तब वर्ग जाति का रूप ले लेता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर जाति सामाजिक संस्तरण की एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी सदस्यता व्यक्ति को जन्म से मिलती है। इसमें व्यक्ति की गतिशीलता, स्थिति, व्यवसाय और जीवन पद्धति का निर्धारण कर दिया जाता है तथा खाने-पीने, विवाह, धार्मिक मान्यताएं आदि के सम्बन्ध में अपने सदस्यों पर नियन्त्रण या प्रतिबन्ध लगाती है।

वर्ग

वर्ग भी सामाजिक संस्तरण की महत्वपूर्ण व्यवस्था है। वर्तमान समाज की संरचना का ढाँचा प्रमुख रूप से विभिन्न वर्गों द्वारा निर्मित है। वर्ग के अन्तर्गत एक समूह के सदस्यों की स्थिति समान होती है। वर्ग व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर व्यक्ति के कार्यों, शिक्षा, आर्थिक स्थिति तथा व्यवसाय पर निर्भर करती है। प्रत्येक वर्ग की अपनी अलग विशेषता होती है, इनमें ऊँच-नीच का निर्धारित क्रम पाया जाता है। विभिन्न विद्वानों ने वर्ग को भिन्न-भिन्न आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वर्ग की परिभाषाएं

मैकाइवर और पेज ने सामाजिक वर्ग के परिप्रेक्ष्य में कहा कि “सामाजिक वर्ग एक समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक दिखता है।”

आगबर्न तथा निमकॉफ का कथन है “एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है, जिनकी आवश्यक रूप से एक समाज विशेष में समान सामाजिक स्थिति है।”

लेपियर ने सामाजिक वर्ग को सांस्कृतिक रूप में परिभाषित करते हुए कहा, “सामाजिक वर्ग सांस्कृतिक रीति से परिभाषित एक समूह है, जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या के अन्तर्गत एक विशेष स्थान या स्तर प्राप्त होता है।”

कार्ल मार्क्स ने वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधार को महत्वपूर्ण माना है। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने वर्ग को आर्थिक आधार पर परिभाषित करते हुए कहा, “एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति के वितरण के साथ स्थापित होने वाले सम्बन्धों के सन्दर्भ में परिभाषित किया जा सकता है।”

9.5 सारांश (Summary)

इस इकाई में सामाजिक ताने-बाने की प्रतीक सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण तथा जाति एवं वर्ग के बीच मूलभूत अंतर को समझाने का प्रयास किया गया है। इस इकाई के द्वारा इनके मूलभूत तत्वों को अभिव्यक्त किया गया है।

9.6 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. जाति को परिभाषित कीजिए तथा जाति और वर्ग में अन्तर बताइये।
2. सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या समझते हैं। इस परिभाषित कीजिए।

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Ogburn and Nimkoff: Sociology.

2. Talcott Parsons:Essays in Sociological Theory.
3. "Workers of the world unite, you have to lose nothing except your chains."-Karl Marx.
4. "Caste is a endogamy group." - Gillin and Gillin
5. N.K.Dutt, Origin and growth of castes in India.
6. G.S.Ghurye, Caste and Class in India.
7. Kingslay Davis, Human society.

सामाजिक नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य (Objectives)

10.1 प्रस्तावना (Preface)

10.2 सामाजिक नियंत्रण (Social Control)

10.3 सारांश (Summary)

10.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

10.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

10.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सामाजिक नियंत्रण की परिभाषाएं एवं स्वरूप के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक नियंत्रण के साधन एवं कार्य के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक नियंत्रण के बारे में वर्णन है। सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता समाज को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए पडती है। सामाजिक नियंत्रण के साधन प्रभावी नहीं होंगे तब समाज में असामंजस्य एवं अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जो कि समाज के लिए हानिकारक होगा। सामाजिक नियंत्रण को स्थापित करने में संस्कृति का भी योगदान महत्वपूर्ण है।

10.2 सामाजिक नियंत्रण

परिभाषाएं

सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस ढंग से है जिसके अन्तर्गत समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण के द्वारा समाज में समरूपता लाना तथा सामाजिक व्यवस्था में एकता तथा स्थिरता बनाए रखने का प्रयास करना है। सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा समाज के सदस्य अनुशासित या नियंत्रित रहते हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है।

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित करते हुए कहा है कि “सामाजिक नियन्त्रण, अनुनय, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहारों को मान्यता प्राप्त व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है या जिसके माध्यम से एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को मान्य नियमों के अनुरूप मोड़ता है।”

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार “सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस ढंग से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में एकता बनी रहती है तथा जिसमें सामाजिक व्यवस्था एक समष्टि के रूप में एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में कार्य करती है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहारों को समाज के मूल्यों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के अनुकूल बनाने के लिए उनको नियंत्रित करना है।

स्वरूप

सामाजिक नियन्त्रण को नियन्त्रण की विधियों तथा समूहों पर इसके प्रभाव के आधार पर मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है:- औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण।

(1) औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण

औपचारिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस नियन्त्रण से है जो राजकीय कानूनों तथा संगठनात्मक नियमों द्वारा संचालित होते हैं। इसका उद्देश्य नियमों तथा कानूनों के द्वारा व्यक्ति तथा समूहों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना है। आधुनिक समाज में औपचारिक नियन्त्रण के साधनों जैसे, संविधान, सरकार, कानून, राज्य तथा शिक्षण संस्थाएँ आदि का महत्व बढ़ता जा रहा है। चेतावनी, पुरस्कार, दण्ड, जुर्माना तथा कारागार आदि औपचारिक नियन्त्रण की विधियों के माध्यम से व्यक्तियों को नियमों तथा कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है। इसके विपरीत अनौपचारिक नियन्त्रण का तात्पर्य धर्म, विश्वास, सामाजिक प्रथा, परम्परा, लोकाचार, जनमत, सामाजिक आदर्शों तथा रूढ़ियों पर होने वाला नियन्त्रण है। इसका सम्बन्ध व्यक्तियों तथा समूहों पर कानूनी रूप से राज्य की तरफ से होने वाला नियन्त्रण नहीं है बल्कि इसका स्वरूप सामाजिक होता है। इसका पालन व्यक्ति अपने मूल्यों तथा नियमों का पालन करते हुए आत्म नियन्त्रण के द्वारा करता है। भाषा, कला, फैशन, पुरस्कार, सामाजिक दण्ड, सुझाव, सीखना आदि

अनौपचारिक नियन्त्रण की प्रविधियाँ हैं। इन्हीं के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित होता है।

औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण के अतिरिक्त विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपों को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है :

(2) चेतन और अचेतन नियन्त्रण

सी.एच. कूले के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— चेतन और अचेतन। चेतन नियन्त्रण वह नियन्त्रण है जिसे व्यक्ति अपनी समझ व बुद्धि से स्वीकार करता है, इनके प्रति व्यक्ति सदैव जागरूक रहता है। इसके विपरीत अचेतन नियन्त्रण वह होता है जिस पर व्यक्ति बिना किसी प्रकार का विचार किये ही अर्थात् बिना किसी सूझ-बूझ के अचेतन रूप से नियंत्रित रहता है। अचेतन नियन्त्रण व्यक्ति के आदतों व पूर्व विचारों के फलस्वरूप व्यक्ति के स्वभाव का हिस्सा बन जाते हैं। जैसे हम समाज की विभिन्न परम्पराओं तथा लोकाचारों का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि वे हमारे लिए उपयोगी हैं। अतः इन पर नियन्त्रण चेतन सामाजिक नियन्त्रण है। अनेक परम्पराएँ तथा संस्कार आदि ऐसे हैं जिनसे हम अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते रहते हैं, परन्तु हम उन्हें सामान्यतः अनुभव नहीं करते हैं तथा उनके प्रति हम जागरूक नहीं होते हैं वह अचेतन सामाजिक नियन्त्रण होता है।

(3) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण

कार्ल मेनहीम (ज़ॉन्स डंडीमपउ) ने सामाजिक नियन्त्रण को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दो स्वरूपों में विभाजित किया है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण का तात्पर्य ऐसे नियन्त्रण से है जो उसके निकटस्थ व्यक्तियों अर्थात् प्राथमिक समूहों के सदस्यों द्वारा लगाया जाता है। जैसे माता-पिता का अपने बच्चों के व्यवहारों पर पुरस्कार या दण्ड द्वारा नियन्त्रण करना प्रत्यक्ष नियन्त्रण को दर्शाता है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण का प्रभाव अपेक्षाकृत स्थायी होता है। अप्रत्यक्ष नियन्त्रण का सम्बन्ध विभिन्न समूहों और संस्थाओं द्वारा लगाए गये नियन्त्रण से है। इसके अन्तर्गत बाध्यता से व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित किया जाता है। धीरे-धीरे व्यक्तियों में इन नियन्त्रणों की आदत हो जाती है। इन नियन्त्रणों का उद्देश्य समूह कल्याण से सम्बन्धित होता है। वर्तमान जटिल समाजों में अप्रत्यक्ष नियन्त्रण अत्यधिक देखने को मिलता है।

(4) सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण

किम्बाल यंग ने नियन्त्रण को सकारात्मक तथा नकारात्मक स्वरूपों में विभाजित किया है। इन्हें धनात्मक तथा ऋणात्मक सामाजिक नियन्त्रण भी कहते हैं। धनात्मक या सकारात्मक नियन्त्रण का तात्पर्य उस नियन्त्रण से है जिसमें समाज के सदस्यों को वांछित व्यवहार सिखाने के लिए पुरस्कृत किया जाता है। जैसे परिवार या विद्यालय में बच्चों के वांछित व्यवहार करने पर पुरस्कृत करना या प्रशंसा करना आदि।

इसके विपरीत ऋणात्मक या नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण वह है जिसमें समाज के सदस्यों को समाज के नियमों या मापदण्डों का उल्लंघन करने पर दण्डित किया जाता है। यह दण्ड नियमों के उल्लंघन की गम्भीरता पर निर्भर करता है। यह सामान्य डॉट-फटकार व आलोचना से लेकर मृत्युदण्ड तक हो सकता है। नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण में दण्ड के भय से व्यक्तियों के विषयगामी व्यवहार को रोकने का प्रयास किया जाता है।

(5) संगठित, असंगठित और सहज नियन्त्रण

गुरविच और मूरे ने सामाजिक नियन्त्रण के संगठित, असंगठित और सहज तीन स्वरूप बताए हैं। संगठित नियन्त्रण प्रतिमानों और नियमों द्वारा लागू होता है। यह सामाजिक नियन्त्रण का विशेषकर प्रमाणीकृत, ढला हुआ ठोस प्रारूप होता है। इसकी प्रकृति आग्रहमूलक या ऐच्छिक होती है। राज्य के कानूनों और विभिन्न संस्थाओं (जैसे— परिवार, विवाह, स्कूल, कार्यालय आदि) द्वारा लगाए गये नियन्त्रण इसका उदाहरण है। असंगठित नियन्त्रण के अन्तर्गत विभिन्न सांस्कृतिक नियम तथा प्रतीक निहित हैं। सामाजिक मापदण्ड, परम्पराएँ, लोकाचार तथा विभिन्न संस्कार आदि असंगठित नियन्त्रण के साधन हैं। असंगठित नियन्त्रण का प्रभाव दैनिक जीवन में अत्यधिक प्रभावी है। सहज सामाजिक नियन्त्रण प्रतीकों और अप्रतिमानिक स्वभाव से प्रारम्भ होकर मूल्यों, विचारों और आदर्शों के द्वारा तीव्र नियन्त्रण में परिवर्तित हो जाता है। यह मूल्य, विचार, आदर्श सहज सामाजिक नियन्त्रण के आधार होते हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए सहज रूप से नियन्त्रण में रहकर कार्य करता है। यह नियन्त्रण का अत्यधिक प्रभावपूर्ण स्वरूप है।

साधन

सामाजिक नियन्त्रण सतत चलने वाली एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न साधन तथा संस्थाएँ संयुक्त रूप से वैयक्तिक तथा सामूहिक व्यवहारों को प्रभावित करती हैं। सामाजिक नियन्त्रण की अनेक विधियाँ हैं जिनके माध्यम से समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित कर सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप कार्य करने के लिए विवश किया जाता है। संस्था का तात्पर्य किसी ऐसे संगठन से होता है जो नीतियों अथवा नियमों का निर्माण कर व्यक्ति और समूह पर लागू करता है। इसके विपरीत साधन का तात्पर्य किसी भी ऐसी विधि या तरीके है जिसके द्वारा संस्थाओं के बनाए गये नियमों अथवा विधियों को लागू किया जाता है।

परिवार, राज्य, शिक्षा संस्थाएँ, धर्म आदि सामाजिक नियन्त्रण की कुछ मुख्य संस्थाएँ हैं तथा लोकाचार, नैतिकता, जनरीतियाँ, कानून, जनमत, प्रथाएँ, पुरस्कार, दण्ड, हास्य व्यंग आदि इन संस्थाओं के साधन हैं जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण स्थापित करता है। इन संस्थाओं तथा साधनों का सामाजिक नियन्त्रण में योगदान की भूमिका को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

(1) परिवार

परिवार के द्वारा ही व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। यह जन्म से ही व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित और दिशा प्रदान करता है। अतः सामाजिक नियन्त्रण में परिवार एक प्रमुख संस्था के रूप में अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करता है। वह अपने सदस्यों के व्यवहार और आचरण पर नियन्त्रण रखता है। परिवार जन्म से ही बच्चे को शिष्टाचार, लोकाचार, जनरीतियों, आदर्शों, मूल्यों एवं प्रथाओं से परिचित करवाता है। लुण्डबर्ग के अनुसार, “सामाजिक व्यवस्था में यदि पुनरोत्पादन का कार्य रुक जाए, यदि बच्चों का पालन पोषण न किया जाए और इन्हें अपने विचारों के आगामी पीढ़ी के लिए संरचित करना तथा एक-दूसरे से सहयोग करना न सिखाया जाए, तब सम्भवतः समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।” अतः इस कथन से स्पष्ट है कि समाज के अस्तित्व की सुरक्षा तथा इसको पूरा करने का दायित्व परिवार का ही है। परिवार समाज की प्रारम्भिक इकाई है। यह प्रारम्भिक इकाई अपने दायित्वों के निर्वाह द्वारा समाज के नियन्त्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह बच्चे में सामाजिक गुणों (जैसे दया, प्रेम, सहयोग, अनुशासन, कर्तव्यपालन आदि) की भावना का विकास, शिक्षा तथा समायोजन आदि के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है। परिवार प्राथमिक समूह के रूप में सामाजिक नियन्त्रण की प्रथम नियन्त्रणकारी शक्ति है।

(2) शिक्षण संस्थाएँ

सामाजिक नियन्त्रण में शिक्षण संस्थाएँ अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। यह संस्थाएँ बच्चों में मानसिक विकास के साथ-साथ उनके सामाजिक व्यवहारों के विकास में भी महत्वपूर्ण हैं। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं, जो समाज में उनकी प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण करते हैं। यह शिक्षण संस्थाएँ व्यक्ति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती हैं और व्यक्ति का समाजीकरण करती हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रसिद्ध समाजशास्त्री टी.बी. बाटोमोर के अनुसार “शिक्षा आवश्यक रूप से नयी पीढ़ियों का सामाजीकरण करने का कार्य करती है लेकिन सामाजिक समूहों और संस्थाओं के अनुसार स्वयं विविध स्वरूपों में स्पष्ट होती है।” शिक्षण संस्थाएँ व्यक्तियों के बौद्धिक क्षमता में विकास करती हैं। उनमें समाज की संस्कृति, रीतियों, प्रथाओं, मूल्यों, कानूनों तथा नियमों की समझ पैदा करती है तथा उसी के अनुरूप व्यक्ति अपने व्यवहार को नियन्त्रण में रखकर कार्य करने के लिए प्रेरित होता है।

शिक्षण संस्थाओं द्वारा व्यक्ति में उत्तरदायित्व, अनुशासन, आज्ञाकारिता आदि जैसे गुणों का विकास होता है जो व्यक्ति में स्वतः सामाजिक नियन्त्रण में रहकर समाज के मूल्यों तथा आदर्शों का पालन करने के लिए जागरूक करता है।

(3) धर्म

सामाजिक नियन्त्रण में धर्म एवं धार्मिक आचरण का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म के आदेशों का पालन न करना पाप माना जाता है, जबकि उनके अनुसार कार्य करना पुण्य माना जाता है। धर्म आन्तरिक और अलौकिक प्रभाव के द्वारा व्यक्ति और सामूहिक जीवन को नियंत्रित करता है, व्यक्ति को आचरण सिखाता है।

मिल्टन थिंगर के अनुसार, “धर्म वह व्यवस्थित प्रयास है जिसके द्वारा हम जीवन की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।”

धर्म एक आध्यात्मिक संसार की रचना करता है जिसमें रहकर व्यक्तियों में सहनशीलता, परोपकारिता, उदारता, दया, त्याग, सत्यता आदि जैसी भावनाओं और मानवीय गुणों का विकास होता है। धर्म समाज कल्याण में वृद्धि करने वाले साधनों को प्रोत्साहित करता है तथा समाज में विघटनकारी शक्तियों पर नियन्त्रण करने का प्रयास करता है। धर्म समाज की सामाजिक व्यवस्था में सबसे अधिक दृढ़ता से सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करता है। धर्म ने सभी समाजों में सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना के लिए जितना कार्य किया है उतना अन्य किसी साधन द्वारा नहीं हुआ है। अतः धर्म सामाजिक नियन्त्रण की एक प्रभावशाली संस्था है।

(5) राज्य

आधुनिक जटिल समाजों में राज्य सामाजिक नियन्त्रण की संस्था के रूप में सामाजिक जीवन के स्थायित्व के लिए आवश्यक है। राज्य कानून, पुलिस, न्यायालयों तथा प्रशासन द्वारा समूहों के व्यवहारों को औपचारिक रूप से नियंत्रित करता है। राज्य व्यक्ति में उन सभी क्षमताओं को उत्पन्न करता है जो सामाजिक नियन्त्रण के लिए आवश्यक हैं। राज्य व्यक्ति के समाज विरोधी कार्यों पर नियन्त्रण रखने के लिए नीति-नियम, तथा कानूनों का निर्माण करता है तथा दण्ड व्यवस्था को प्रभावपूर्ण बनाता है। फेयर चाइल्ड ने इसी सन्दर्भ में कहा है कि “राज्य समाज की वह संस्था है जो शक्ति का उपयोग करने अथवा दमनकारी नियन्त्रण को लागू करने का अधिकार रखती है। इस शक्ति का उपयोग सदस्यों पर नियन्त्रण रखने अथवा अन्य समाजों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है।”

(5) नेतृत्व

सामाजिक नियन्त्रण को बनाये रखने में समाज के महान नेताओं और उनके नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यदि किसी समाज के सदस्यों का उचित नेतृत्व या मार्गदर्शन किया जाता है तो उस समाज के सदस्य समाज के नियमों, मूल्यों और मानदण्डों के अनुकूल व्यवहार करना सीखते हैं। नेता या मार्गदर्शक सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि होते हैं क्योंकि समाज में रहने वाला व्यक्ति उसी के पथ का अनुसरण करके सामाजिक व्यवहार करता है। अतः यही कारण है कि जिस समाज में नेतृत्व जितना अधिक

स्वस्थ व संगठित होता है उस समाज में उतना ही व्यक्तियों का जीवन नियन्त्रित और संगठित होता है। हमारे देश के महान नेताओं में महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस आदि ने समाज में एकता, शान्ति और सहयोग को प्रोत्साहित कर लोगों के व्यवहारों को प्रेरित किया। गिलिन और गिलिन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि “सामाजिक नियन्त्रण में पहला कदम सम्भवतः प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा उठाया गया है। महापुरुष सदा की भाँति ही आज भी समाज में अपनी भूमिका निर्वाह करता आ रहा है। आधुनिक प्रजातन्त्र ने उसे सेना के प्रमुख के स्थान पर उद्योग, शिक्षा, कला तथा विज्ञान के प्रमुख का नया रूप प्रदान कर दिया है।”

(6) प्रथाएँ

प्रथाओं से तात्पर्य समाज से मान्यता प्राप्त कार्य करने की विधियों से होता है। सामाजिक नियन्त्रण में प्रथाएँ महत्वपूर्ण सांस्कृतिक साधन हैं। यह व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अन्तर्गत व्यवहार के सभी ढंग समाहित होते हैं जिनका पालन अनेक पीढ़ियों से होता चला आ रहा है। व्यक्ति प्रथाओं की अवहेलना नहीं करता है क्योंकि अनेक पीढ़ियों से इनके पूर्वज इसका पालन करते आ रहे हैं, अतः व्यक्ति इस परम्परा को बनाए रखने के लिए अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण करता है। प्रथाओं से सम्बन्धित यह भावना व्यक्ति की प्रथाओं के अनुसार उसे व्यवहार और कार्य करने को बाध्य करती है। इसी परिप्रेक्ष्य में बेकन (टंबवद) ने प्रथाओं को मानव जीवन के प्रमुख दण्डाधिकारी के रूप में माना है। बाल्यकाल से ही व्यक्ति इन प्रथाओं के वातावरण के बीच बड़ा होता है और इसे अपने व्यवहार में स्वतः अपनाने के लिए बाध्य हो जाता है।

(7) जनरीतियाँ

ग्रीन के अनुसार “एक समूह या समाज की सामान्य कार्य करने की ये विधियाँ जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं, जनरीतियाँ कहलाती हैं।” जैसे द्वारिक स्थलों पर जूते-चप्पल बाहर उतारकर अन्दर जाना, किसी के घर में खट-खटाकर अन्दर जाना, किसी से मिलने पर नमस्ते द्वारा अभिवादन करना आदि जनरीतियों के उदाहरण हैं।

जनरीतियों की उत्पत्ति व्यक्ति की सामाजिक अन्तर्क्रिया के माध्यम से स्वतः होती है। समाज में प्रचलित सभी जनरीतियों का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। मैकाइवर के अनुसार “जनरीतियाँ समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत तथा मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं।” समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होने के कारण व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से इसे स्वीकृत करता है, इनका उल्लंघन करने का साहस नहीं करता है। जनरीतियों का पालन समाज के लोग स्वतः ही करते हैं। इसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के लोकप्रिय व्यवहार आते हैं। अतः जनरीतियों के पालन से न केवल समाज में अनुरूपता की विशेषता उत्पन्न होती है बल्कि यह समूह विशेष के सदस्यों पर भी कुछ नियन्त्रण रखती हैं।

(8) रूढ़ियाँ

लम्ले के अनुसार, “जब एक जनरीति में समूह कल्याण की भावना जुड़ जाती है तो वही जनरीति एक रूढ़ि या लोकाचार बन जाती है।” प्रत्येक समाज में रूढ़ियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण होती हैं, क्योंकि इनके साथ कल्याण की भावना जुड़ी होती है। रूढ़ियाँ आचरण की शुद्धता को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। समाज में व्यक्ति के व्यवहारों को रूढ़ियाँ किसी न किसी प्रकार से अवश्य प्रभावित करती हैं। रूढ़ियाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती हैं। इनका उल्लंघन करने पर अधिक कठोर दण्ड दिया जाता है। जैसे बच्चा स्कूल में शिक्षक की या घर में माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो उसे दण्डित किया जाता है। रूढ़ियाँ या लोकचार समाज में व्यक्ति को नैतिकता की सीख देते हुए उनके व्यवहारों को नियन्त्रित करता है।

(9) कानून

कानून सामाजिक नियन्त्रण का औपचारिक साधन है। समकालीन समाजों में कानून का महत्वपूर्ण स्थान है। कानून की घोषणा राज्य के द्वारा लिखित रूप में की जाती है, इनका उल्लंघन करने पर राज्य की ओर से पूर्व निर्धारित दण्ड दिया जाता है। वर्तमान समाज में व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए अनेक कानून बनाए गये हैं, इनका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड का प्रविधान है। रॉस (त्वे) ने कानून को सामाजिक नियन्त्रण का सबसे विशेषीकृत और पूर्ण साधन माना है। इसका पालन करना राज्य के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य है। कानून समाज की रक्षा तथा कल्याण का कार्य करते हैं। हॉबेल के अनुसार “कानून एक सामाजिक आदर्श नियम है जो धमकी अथवा शारीरिक बल के माध्यम से उस पक्ष द्वारा प्रस्तुत किया है जिसे इस प्रकार कार्य करने की सामाजिक मान्यता मिली होती है।”

(10) जनमत

एक विषय पर बहुत से व्यक्तियों के जो विचार तथा प्रतिक्रियाएँ होती हैं उन्हें जनमत कहा जाता है। इसके द्वारा मनुष्यों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। कुप्पूस्वामी ने जनमत को परिभाषित करते हुए कहा है कि “एक समय विशेष में किसी समस्या विशेष के सम्बन्ध में एक छोटे या बड़े समुदाय द्वारा स्वीकृत मत ही जनमत है।” जनमत व्यक्तियों या समूहों के व्यवहारों, विचारों तथा विश्वासों को नियन्त्रित करने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। सामान्यता जटिल तथा शहरी समाजों की अपेक्षा सरल तथा ग्रामीण समाज के व्यक्तियों के व्यवहारों को जनमत अधिक प्रभावित करता है। जनमत के माध्यम से किसी विशेष निर्णय या व्यवहार का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके द्वारा समाज में गलत नीतियों या व्यवहारों के लिए व्यक्ति एकजुट होकर आवाज उठाता है। जनमत के द्वारा जनता या समाज में रहने वाले सदस्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार से विशेष परिस्थिति पर विचार करने की प्रेरणा दी जाती है। इसी क्षमता या योग्यता से प्रेरित होकर व्यक्ति स्वयं अनुशासन का पालन करते हुए अपने व्यवहार को नियन्त्रित करता है।

(10) पुरस्कार और दण्ड

पुरस्कार और दण्ड व्यक्ति में क्रमशः प्रलोभन और भय की स्थिति उत्पन्न करते हैं। यह व्यक्ति की असामाजिक मनोवृत्तियों को प्रभावित करते हैं, उनमें अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण की क्षमता जागृत करते हैं। पुरस्कार व्यक्तियों को अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखकर अधिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है। प्रशंसा तथा सहयोग के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखता है। पुरस्कार के द्वारा बच्चों में सामाजिक सीख का विकास किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण में पुरस्कार का महत्व जीवन के प्रत्येक स्तर पर रहता है। बाल्यकाल में पुरस्कार या प्रशंसा के द्वारा माता-पिता, स्कूल आदि बच्चों में अच्छी सीख का विकास करते हैं तथा उनके व्यवहार को नियन्त्रण में रखकर सामाजिक नियन्त्रण में सहयोग देते हैं। इसके विपरीत दण्ड एक बाध्यतामूलक साधन है जो व्यक्ति में भय के कारण सामाजिक मूल्यों तथा नियमों के विरुद्ध व्यवहार करने से रोकता है। जैसे बच्चे को किसी गलत कार्य के करने पर माता-पिता या विद्यालय द्वारा दण्डित किया जाता है तो बच्चा पुनः उस कार्य को भय के कारण नहीं करता है। अतः दण्ड और पुरस्कार दोनों व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित कर सामाजिक नियन्त्रण के महत्वपूर्ण साधन हैं।

(12) आदर्श

आदर्श की भावना का विकास होने पर व्यक्ति का व्यवहार अत्यधिक नियन्त्रित हो जाता है। थामसन के अनुसार, "व्यक्ति में सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के विकास के कारण ही विश्वास में दृढ़ता और समझ में प्रखरता आ सकती है। सामाजिक नैतिक मूल्यों के कारण ही वह आदर्श विरोधी वस्तुओं के प्रति घृणा और आदर्श वस्तुओं के प्रति जागरूक हो सकता है। व्यक्ति में आदर्श भावना का समावेश होने पर वह अपने लक्ष्य को सत्यता, ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा से प्राप्त करने के लिए कड़ी मेहनत करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा सामाजिक जीवन के आचरण का संचालन आदर्श करते हैं।

कार्य

सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन, एकता तथा अनुशासन बनाए रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक पहलू है। समाज में व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करने विभिन्न मूल्यों, परम्पराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों आदि का पालन करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति को बाध्य करता है तथा समाज में एकता, अनुरूपता स्थापित करता है। यदि समाज से सामाजिक नियन्त्रण को विलुप्त कर दिया जाए तो व्यक्ति मनमाने व्यवहारों को प्रोत्साहन देने लगेगा। अतः सामाजिक नियन्त्रण समाज के लिए अधिक आवश्यक समझा जाता है। सामाजिक नियन्त्रण का कार्य व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित कर समाज के सन्तुलन को बनाए रखना तथा सदस्यों में एकता और सहयोग की भावना का विकास करना है। सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता अथवा इसके कार्य को निम्नांकित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) एकरूपता

एकता का अर्थ समूह के सदस्यों के दृष्टिकोणों, व्यवहारों और अभिवृत्तियों आदि में समानता से है। समूह के सदस्य सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से समान सामाजिक नियमों के अन्तर्गत रहकर व्यवहार तथा कार्य करते हैं। इन समान सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति दण्ड का भागीदार होता है।

(2) सामाजिक संगठन

सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से समाज को संगठित कर सामाजिक व्यवस्था को स्थिर बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। मानव के अनियन्त्रित व्यवहारों को नियन्त्रित कर उनके मूल्यों, आचरणों तथा व्यवहारों को समाज के अनुरूप बनाया जाता है। समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित कर सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक संगठन को स्थिर बनाए रखता है।

(3) सहयोग

सहयोग वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें कुछ व्यक्ति एक साथ संगठित होकर सामूहिक रूप से सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने कार्यों को संयुक्त करते हैं। समाज में जीवित रहने के लिए 'समाज' के सदस्यों में परस्पर सहयोग होना अति आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित कर उनको पारस्परिक सहयोग द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है।

(4) परम्पराओं को बनाए रखना

सामाजिक नियन्त्रण में वह अद्भुत क्षमता है जो हमें हमारी परम्पराओं के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। जिन्सबर्ग के अनुसार, "परम्परा का अर्थ व्यक्तियों के विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग से है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।" सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति के व्यवहारों तथा कार्यों को नियन्त्रित कर उसे समाज के मूल्यों, आदर्शों तथा परम्पराओं का पालन करने के लिए बाध्य करता है।

(5) सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति को समाज के मूल्यों तथा नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करता है तथा उसके व्यवहारों और कार्यों को समाज के अनुकूल बनाता है। समाज विरोधी कार्यों तथा व्यवहारों से व्यक्ति की सुरक्षा के लिए कानून बनाता है। अतः यह व्यक्ति को मानसिक तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है।

10.3 सारांश (Summary)

सामाजिक नियंत्रण उन सभी नियोजित या अनियोजित प्रक्रियाओं और संस्थाओं के लिए सामूहिक शब्द है, जिसके द्वारा लोगों की लोक रीतियों तथा समूह के जीवन मूल्यों के अनुसार कार्य करना सिखलाया जाता है, प्रेरित किया जाता है अथवा बाध्य किया जाता है।

10.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप क्या है?
2. सामाजिक नियंत्रण को परिभाषित करते हुए इसके कार्य बताइये।
3. क्या सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है? सामाजिक नियंत्रण किन विभिन्न साधनों द्वारा किया जाता है।

10.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Ogburn and Nimkoff: Sociology.
2. Talcott Parsons: Essays in Sociological Theory.
3. Kingslay Davis, Human society.
4. T.B. Bottomore : Sociology.

संस्कृति एवं व्यक्तित्व

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य (Objectives)

11.1 प्रस्तावना (Preface)

11.2 संस्कृति (Culture)

11.3 व्यक्तित्व (Personality)

11.4 सारांश (Summary)

11.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

11.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

11.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संस्कृति की परिभाषाएं, विशेषताएं एवं प्रकार को जान सकेंगे।
- व्यक्तित्व की परिभाषाएं, विशेषताएं एवं प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति एवं व्यक्तित्व के बारे में बताया गया है। व्यक्तित्व शब्द से अभिप्राय व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विशेषताओं से है जबकि संस्कृति का निर्माण हमारे सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं एवं प्रथाओं के आधार पर होता है।

11.2 संस्कृति

परिभाषाएं

मानव के व्यक्तित्व तथा संस्कृति के मध्य सम्बन्धों को समझने के लिए संस्कृति का ज्ञान होना आवश्यक है। संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बनता है तथा प्राकृतिक दशाओं को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी संस्कृति के अनुरूप होता है। यह एक ऐसा कारक है जो व्यक्तित्व के विकास को आवश्यक दिशा प्रदान करती है। आलपोर्ट के अनुसार “संस्कृति व्यक्तित्व की उत्पत्ति के लिए पृष्ठभूमि है।”

विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

लुण्डबर्ग के अनुसार, “संस्कृति को उस व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें हम सामाजिक रूप से प्राप्त और आगामी पीढ़ियों को संचरित कर दिये जाने वाले निर्णयों, विश्वासों, आचरणों तथा व्यवहार के परम्परागत प्रतिमानों से उत्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक और भौतिक तत्वों को सम्मिलित करते हैं।”

मैकाइवर तथा पेज ने संस्कृति को स्पष्ट करते हुए कहा है, “हमारे रहने, विचार करने, प्रतिदिन के कार्यों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन और आनन्द में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।”

संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य के समस्त अर्जित तथा संक्रमित व्यवहार का समावेश होता है। होबेल ने संस्कृति के सम्बन्ध में कहा है कि “संस्कृति ऐसे सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो एक समाज की विशेषताओं की ओर इंगित करता है और इसलिए जैविक विरासत का परिणाम नहीं होती है।”

टायलर ने संस्कृति के सन्दर्भ में लिखा है कि “संस्कृति वह जटिल सम्पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आधार, कानून, प्रथा तथा इसी प्रकार की ऐसी सभी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मानव समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।”

ए. डब्लू. ग्रीन ने संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य की समस्त भौतिक और अभौतिक उपलब्धियों को शामिल करते हुए कहा है “संस्कृति ज्ञान, व्यवहार, विश्वास तथा उपकरण आदि की समाज द्वारा संक्रमित व्यवस्था है।”

बोर्गार्डस के अनुसार, “संस्कृति समूह के सम्बद्ध रीति रिवाजों, परम्पराओं तथा प्रचलित व्यवहार के प्रतिमानों से बनती है। यह समूह की सम्पत्ति है। यह मूल्यों की ऐसी पूर्ववर्ती समष्टि है कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जन्म होता है। यह एक ऐसा माध्यम है जिसमें व्यक्ति विकसित और परिपक्व होते हैं।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति के अन्तर्गत मानव समाज को प्राप्त होने वाले वे सभी गुण आते हैं जिसे व्यक्ति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से समाज से सीखता है।

विशेषताएं

संस्कृति की परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं :

1. सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों के सम्पूर्ण योग को संस्कृति कहते हैं।
2. प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। विभिन्न समाजों की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में भिन्नता के कारण उसकी सांस्कृतिक प्रकृति में भी भिन्नता पायी जाती है।
3. संस्कृति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होने की विशेषता होती है। अर्थात् एक पीढ़ी के सदस्यों के मूल्यों, आदर्शों तथा परम्पराओं आदि का ज्ञान दूसरी पीढ़ी में संचरित होता है।
4. संस्कृति मानव की जैविकीय तथा सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।
5. संस्कृति समूह का आदर्श होती है। व्यक्ति के सामूहिक व्यवहारों तथा आदर्शों से संस्कृति का निर्माण होता है।
6. प्रत्येक संस्कृति के निश्चित उद्देश्य होते हैं। यह व्यक्तियों में मनोवैज्ञानिक एकता प्रदान करती है।
7. संस्कृति में समाज तथा वातावरण के साथ अनुकूलन करने का गुण होता है। समाज में परिवर्तन के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन का गुण पाया जाता है। संस्कृति का स्वरूप परिवर्तनशील होता है। व्यक्ति तथा समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन संस्कृति है। समाज में परिवर्तन से आवश्यकताओं में परिवर्तन होता है जिससे इनकी पूर्ति के साधनों में भी परिवर्तन हो जाता है।

प्रकार

ऑगबर्न ने संस्कृति को सामाजिक विरासत के रूप में सम्बोधित करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति को अपने माता-पिता के द्वारा शारीरिक व मानसिक विशेषताएं प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार समाज के द्वारा अनेक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। समाज द्वारा प्राप्त ये वस्तुएँ (गुण) सामाजिक विरासत होते हैं। इस सामाजिक विरासत को ही 'संस्कृति' कहते हैं। ऑगबर्न ने संस्कृति के दो प्रकारों का उल्लेख किया है।

- (1) भौतिक संस्कृति
 - (2) अभौतिक संस्कृति
- (1) भौतिक संस्कृति

भौतिक संस्कृति का अर्थ मूर्त अथवा प्रत्यक्ष संस्कृति से है। इस संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी पदार्थ सम्मिलित हैं जिनका निर्माण व्यक्ति द्वारा अपनी आवश्यकता पूर्ति तथा सुख-सुविधाओं के लिए किया गया है। मानव अपनी बुद्धि तथा ज्ञान के उपयोग से प्राचीन काल से ही अनेक अविष्कारों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर अपनी सुख-सुविधाओं में वृद्धि का प्रयास करता रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में भौतिक साधनों का विकास भी प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत हैं। वर्तमान औद्योगिक तथा आधुनिकीकरण के युग में मानव ने अपनी सुख-सुविधा के लिए अनेक भौतिक साधनों (जैसे मशीनें, उपकरण, इमारतें, कारखाने, वाहन, मनोरंजन के साधन आदि) का अविष्कार किया। इन वस्तुओं का उपयोग मानव अपनी रुचि के आधार पर करता है। मानव की रुचियों, योग्यता और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ भौतिक संस्कृति में परिवर्तन प्रतीत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भौतिक संस्कृति गतिशील तथा वैकल्पिक है। व्यक्ति अपनी इच्छा तथा सामर्थ्य के अनुसार भौतिक तत्वों का उपभोग करता है। किसी विशेष भौतिक तत्व को ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता है।

भौतिक संस्कृति का तात्पर्य मानव के बाहरी जीवन आकर्षण तथा भोग-विलास से होता है। अतः यह मानव के बाह्य व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला प्रत्यक्ष या मूर्त साधन है।

(2) अभौतिक संस्कृति

अभौतिक संस्कृति का तात्पर्य उस स्थिर व्यवस्था से है, जिसके अन्तर्गत विश्वास, विचार, नियम, परम्पराएँ, जनरीतियाँ, प्रथाएँ, लोकाचार, धर्म, कला, साहित्य आदि मानव-व्यवहार को अमूर्त रूप से प्रभावित करती हैं। अभौतिक संस्कृति का कोई प्रत्यक्ष रूप नहीं होता है। मानव इसे अपने व्यवहार में इच्छानुसार या बाध्यतावश ग्रहण करता है। ये व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होते हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को इन व्यवहारों तथा नियमों का पालन करना पड़ता है। इनकी अवहेलना करने पर समाज में दण्ड की व्यवस्था होती है।

अभौतिक संस्कृति की प्रकृति स्वाभाविक तथा आन्तरिक होती है। यह मानव के मानवीय गुणों या व्यवहारों तथा समाज की समुचित व्यवस्था को बनाए रखने पर बल देती है। प्रत्येक समाज की अभौतिक संस्कृति में भिन्नता पायी जाती है, क्योंकि प्रत्येक समाज के व्यक्तियों के व्यवहारों, मूल्यों, नियमों, परम्पराओं आदि में भिन्नता होती है।

11.3 व्यक्तित्व

परिभाषाएं

व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार उसकी रुचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं, आदतों, प्रेरणाओं, उद्देश्यों तथा शारीरिक गुणों के सम्मिलित योग को कहते हैं। व्यक्तित्व एक गतिशील समष्टि है। यह पर्यावरण के प्रभाव से निरन्तर बदलती रहती है। व्यक्ति जिस प्रकार के परिवेश या सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ अपना अनुकूलन करता है, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व होता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं व्यक्तित्व व्यक्ति के अन्दर पाये जाने वाले शारीरिक तथा मानसिक गुणों का गत्यात्मक संकलन है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्तित्व के अर्थ को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है:

जी.डब्लू आलपोर्ट ने व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में लिखा है कि “व्यक्तित्व मनोदैहिक व्यवस्थाओं का वह गत्यात्मक संगठन है जो उसके पर्यावरण के प्रति होने वाले अपूर्ण अनुकूलों का निर्धारण करता है।” आलपोर्ट ने व्यक्तित्व को गत्यात्मक संगठन के रूप में स्वीकार किया। समाज में परिवर्तन के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी वातावरण की अन्तर्क्रियाओं के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। इन्होंने व्यक्ति के मनोदैहिक गुणों में मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के गुणों को सम्मिलित किया है।

ड्रेवर के अनुसार “मनोवैज्ञानिक तथा सामान्य रूप से व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। परन्तु सबसे अधिक व्यापक और सन्तोषजनक अर्थ यह है कि व्यक्तित्व, व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का वह संगठित और गतिशील संगठन है जो अन्य व्यक्तियों के प्रति नित्य प्रति के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान के दौरान अपने को अभिव्यक्त करता है।”

किम्बाल यंग के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में लिखा है, “अपने प्रायोजनों (उद्देश्य) के लिए हम व्यक्तित्व को एक व्यक्ति की आदतों, लक्षणों, मनोवृत्तियों तथा विचारों के बहुत कुछ प्रतिमानित संग्रह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो बाहरी तौर पर तो कार्यो तथा स्थितियों के रूप में संगठित होते हैं परन्तु आन्तरिक रूप से प्रेरणाओं, लक्ष्यों तथा आत्म के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित होते हैं।”

एन. एल. मन के अनुसार, “व्यक्तित्व की परिभाषा एक व्यक्ति के ढाँचे, व्यवहार के तरीकों, रुचियों, मनोवृत्तियों, योग्यताओं और अभिरुचियों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन के रूप में की जा सकती है।”

आइजनेक के अनुसार, “व्यक्ति की अभिप्रेरणात्मक व्यवस्थाओं का व्यक्तित्व सापेक्ष रूप में वह स्थिर संगठन है जिसकी उत्पत्ति जैविक अन्तर्नोदों सामाजिक और भौतिक वातावरण की अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप होती है।”

लैपियर ने व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए कहा है कि, “व्यक्तित्व उन सभी गुणों की सम्पूर्णता का नाम है जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त किया है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व सामाजिक परिवेश के साथ व्यक्ति की अन्तःक्रिया का परिणाम है। यह व्यक्ति के विशेष लक्षणों का संगठन है। इसी के अनुरूप व्यक्ति समाज में अपनी भूमिका तथा उत्तरदायित्व का निर्वहन करता है।

विशेषताएं

व्यक्ति के व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. व्यक्तित्व वह है जो व्यक्ति में असाधारण पाया जाता है।
2. व्यक्तित्व प्रदत्त अथवा जन्मजात नहीं होता है इसे अर्जित किया जाता है।
3. व्यक्तित्व व्यक्ति के स्थायी गुणों की ओर विशेष रूप से संकेत करता है।
4. व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सामाजिक तथा सांस्कृतिक गुणों के साथ-साथ अन्तःक्रिया का प्रभाव भी पड़ता है।
5. व्यक्तित्व का प्रदर्शन व्यक्ति के व्यवहारों, मूल्यों, कार्यों तथा दूसरों पर पड़ने वाले प्रभावों के द्वारा होता है।
6. व्यक्तित्व व्यक्ति द्वारा परिवर्तनशील वातावरण में अनुकूलन प्रकट करता है।

प्रकार

व्यक्तित्व को प्रकारों में वर्गीकृत करने के कुछ प्रयत्न किए गए। ईसापूर्व पांचवी शताब्दी में ग्रीक चिकित्सक हिप्पोक्रेटसने मानवप्राणियों को चार प्रकारों में विभक्त किया—तेजस्वी, विषादी, मुर्दादिल एवं क्रोधी। अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी में विभेदित किया। अन्तर्मुखी व्यक्ति स्वयं अपनी आन्तरिक अनुभूतियों एवं विचारों में लीन रहता है। वह अपनी ही कल्पनाओं में खोया रहता है। वह आत्मकेन्द्रित होता है। बहिर्मुखी बाह्य जगत के कार्यों में सक्रिय भाग लेता है। वह अत्यन्त व्यावहारिक होता है। इन दो प्रकारों के मध्य में एक तीसरा प्रकार उभयमुखी भी होता है। उभयमुखी व्यक्ति में अन्तर्मुखी तथा बाह्यमुखी दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण पाए जाते हैं। अधिकांश लोग उभयमुखी होते हैं। जर्मन मनोविज्ञानशास्त्री अर्नेस्ट क्रेचमर के अनुसार, बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति साहसी एवं शक्तिशाली होता है जबकि अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का व्यक्ति लम्बा एवं दुबला पतला होता है। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों को उसने Pykric तथा दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को Leptosome कहा। डब्लू. आई. थामस एवं पलो-रियन जनेकी ने स्वेच्छाचारी, असंस्कृत एवं स्टेवेन्स ने कटिप्रवण, अस्थिपेशीप्रवण तथा आयतास्थिप्रवण में व्यक्तित्वों को वर्गीकृत किया।

11.4 सारांश (Summary)

इस इकाई के द्वारा व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विशेषताओं को सरल, सहज एवं सूक्ष्म रूप से समझाने का प्रयास किया गया है। वास्तव में संस्कृति एवं व्यक्तित्व एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित है क्योंकि व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति की भूमिका महत्वपूर्ण है।

11.5 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. संस्कृति से आप क्या समझते हैं? पूर्णतया व्याख्या कीजिए।
2. व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं के बारे में बताइये।
3. संस्कृति का क्या अर्थ है इसके विभिन्न प्रकारों को बताइये।

11.6 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Ogburn and Nimkoff: Sociology.
2. Kingslay Davis, Human society.
3. "Personality is the dynamic organisation within an individual of those psycho-physical systems that determine his unique adjustment to environment."- G.W.Allport, Personality Interpretation.
4. "Culture is a man made part of environment" - M.J.Herskovits, Man and his work.
5. Culture is the complex whole that consists of everything we think and do not have as member of society."-Robert Bierstedt, The Social Order.
6. "Culture is socially transmitted system of idealised ways in knowledge, practice and belief along with the artifacts." - A.W. Green.

संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य (Objectives)

12.1 प्रस्तावना (Preface)

12.2 संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव (Effect of Culture on Personality)

12.3 सारांश (Summary)

12.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

12.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

12.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संस्कृति की व्यक्तित्व पर प्रभाविता के बारे में जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना (Preface)

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव कितना पडता है इसको अभिव्यक्त किया गया है। वास्तव में संस्कृति वह दशा है जो व्यक्तित्व का निर्माण करती है क्योंकि हमारे जीवन मूल्य, आदर्श, नैतिक नियम एवं परम्परा ये सभी संस्कृति की ही देन हैं।

12.2 संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव (Effect of Culture on Personality)

साधारणतया व्यक्तित्व का तात्पर्य उन गुणों के समावेश से लगाया जाता है जो दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सहायक होते हैं। व्यक्ति में इन गुणों का विकास उसकी संस्कृति के अनुरूप समाजीकरण तथा सीख की प्रक्रिया के द्वारा होता है। व्यक्ति की संस्कृति तथा सांस्कृतिक पर्यावरण का उसके व्यक्तित्व पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मानव व्यक्तित्व का विकास अनेक कारकों की पारस्परिक अन्तः क्रियाओं के परिणामस्वरूप होता है। जन्म के समय मानव मात्र एक जैविक शरीर रचना का ढाँचा

होता है, उसे जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित करने में सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा उसके व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक समाज की संस्कृति में भिन्नता के कारण व्यक्तियों के व्यवहारों में भी विभिन्नता पायी जाती है। लिण्टन ने व्यक्ति के व्यक्तित्व में संस्कृति की विशेषता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “मानव व्यवहार का व्यक्तित्व को परिशुद्ध करने का एक साधन संस्कृति है।” संस्कृति व्यवहार प्रतिमानों का वह योग है जो समाज की विशेषताओं को स्पष्ट करती है। अतः व्यक्तित्व विकास का संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है

संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। यह मानव के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। बच्चा जन्म के समय एक जैविकीय प्राणी मात्र होता है। उस जैविकीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में परिवर्तित करने का कार्य संस्कृति के द्वारा ही होता है। संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण तथा उसमें आदतों, विचारों, मनोवृत्तियाँ, प्रथाएँ, विश्वासों, मूल्यों तथा आदर्शों आदि का समावेश करती है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक निश्चित स्वरूप व दिशा प्रदान कर समाज के अनुकूल बनाने का प्रयास करती है। संस्कृति समाज के परिवेश का अंश है जिसमें जन्मित व्यक्ति सभ्यता की सीढ़ियाँ चढ़कर स्वयं को उसके अनुरूप ढाल लेता है। इसी परिप्रेक्ष्य में रूथ बेनेडिक्ट के अनुसार, “जन्म के समय से ही बच्चा जिन प्रथाओं के बीच पैदा होता है वे प्रथाएँ उसके अनुभवों तथा व्यवहारों को आकृति प्रदान करती हैं। बच्चा बोलना सीखते ही अपनी संस्कृति का एक छोटा प्राणी बन जाता है। बड़ा होने पर सांस्कृतिक कार्यों में हिस्सा लेने लायक हो जाता है। संस्कृति की आदतें उसकी आदतें, संस्कृति के विश्वास और संस्कृति की असम्भावनाएँ उसकी असम्भावनाएँ बन जाती हैं। संस्कृति व्यक्ति को वह कच्चा माल प्रदान करती है जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। जब संस्कृति द्वारा प्रदान किया गया कच्चा माल अपर्याप्त होता है तब उसका विकास पूर्ण नहीं हो पाता है। उसे कच्चा माल जब पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है तब वह उसका सदुपयोग करता है।”

मानव के व्यक्तित्व पर संस्कृति का प्रभाव जीवन पर्यन्त पड़ता है। र्यूटर तथा हार्ट के अनुसार “समाज मनुष्य को पशु-जीवन से विरक्त करता है परन्तु इस बात का निर्धारण संस्कृति ही करती है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का रूप किस प्रकार का होगा।” इससे स्पष्ट होता है कि एक व्यक्ति पर संस्कृति का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है— प्रथम यह कि एक समाज के व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर संस्कृति का कितना और क्या प्रभाव पड़ेगा। इसका निर्धारण इस तथ्य पर निर्भर करता है कि व्यक्ति समाज के सांस्कृतिक मूल्यों व प्रतिमानों आदि का कितना ज्ञान अर्जित करता है तथा अपने जीवन में इसका कितना पालन करता है। दूसरा प्रभावी तथ्य यह है कि बच्चे के प्रति उसके माता-पिता तथा परिवारजनों की क्या अभिवृत्तियाँ हैं। वे उसका समाजीकरण तथा पालन-पोषण किस प्रकार के सांस्कृतिक पर्यावरण में करते हैं। शिशुओं के पालन-पोषण का भी उसके व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस कारण विभिन्न

सामाजिक—सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित व्यक्तियों के व्यक्तित्व में भिन्नता पायी जाती है। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर संस्कृति के प्रभावों को निम्नलिखित रूप में अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव

लिण्टन के अनुसार व्यक्तित्व का विकास विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुभवों पर आधारित होता है। समाज में विभिन्न परिवर्तनों के आधार पर व्यक्ति के अनुभवों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन होता है। संस्कृति का व्यक्तित्व पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है :

(1) सामाजिक गुणों पर प्रभाव

संस्कृति का निर्माण समाज के सदस्यों की परस्पर अन्तर्क्रिया द्वारा होता है। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। यह जन्म से हस्तान्तरित नहीं होती, बल्कि प्रत्येक पीढ़ी समाजीकरण के माध्यम से संस्कृति द्वारा निर्मित सामाजिक गुणों को प्राप्त करती है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। संस्कृति के द्वारा व्यक्ति के अनेक सामाजिक गुण जैसे सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता, उत्तरदायित्व तथा त्याग की भावना, आदर, नैतिकता आदि गुणों का विकास होता है जो उसकी संस्कृति के स्वरूप को निश्चित कर उसके व्यक्तित्व का निर्धारण करती है। संस्कृति के द्वारा प्राप्त सामाजिक सीख से व्यक्ति समाज में अपनी भूमिका तथा प्रस्थिति का निर्वहन करता है तथा समाज की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल अपने व्यवहार को ढालता है। अतः भिन्न—भिन्न संस्कृतियों में निवास करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक गुणों में भिन्नता पायी जाती है, जो यह स्पष्ट करता है कि संस्कृति व्यक्ति के सामाजिक गुणों को प्रभावित करती है।

(2) व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक लक्षणों पर प्रभाव

संस्कृति व्यक्ति के मानसिकता उसकी सोच, रुचि, कल्पनाशक्ति, स्मरणशक्ति, भावनाओं, इच्छाओं तथा मनोवृत्तियों आदि को प्रभावित करती है। समाज में व्यक्तियों का अन्य सदस्यों के प्रति व्यवहार, सोच, मनोवृत्तियों में एक दूसरे से बहुत भिन्नता पायी जाती है। इसका कारण व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक लक्षणों पर संस्कृति का प्रभाव होता है जिससे इनके प्रत्यक्षीकरण में भिन्नता होती है। भाषा, कला, विश्वास तथा संस्कृति के कुछ अन्य तत्व प्रत्यक्षीकरण के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति अपने सांस्कृतिक अनुभवों, आदर्श व विश्वासों के आधार पर प्राप्त करता है। किसी एक विषय पर की गई चर्चा में प्रत्येक व्यक्ति का विचार तथा प्रत्यक्षीकरण एक—दूसरे से भिन्न होता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कल्पना तथा अचेतन प्रक्रियाओं का संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है जो व्यक्ति के व्यवहार में कल्पना तथा कला को जन्म देते हैं और उसके मानसिक गुणों के विकास पर प्रभाव डालते हैं।

(3) सांवेगिक गुणों पर प्रभाव

व्यक्ति के सांवेगिक गुणों जैसे— घृणा, प्रेम, क्रोध, भय, प्रसन्नता आदि की शक्ति व्यक्ति को वंशानुक्रम से प्राप्त होती है परन्तु इसकी अनुभूति या प्रदर्शन का ज्ञान संस्कृति से प्राप्त होता है। संस्कृति के द्वारा व्यक्ति को सांवेगिक गुणों के भाव, अर्थ तथा उसके प्रकटन का ज्ञान होता है। इनके व्यवहारिक तथा सामाजिक कार्यों का ज्ञान भी संस्कृति से होता है।

(4) पालन—पोषण तथा प्रशिक्षण पर प्रभाव

बच्चे का पालन—पोषण तथा प्रशिक्षण जिस प्रकार के सांस्कृतिक पर्यावरण में होता है व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास उसी के अनुरूप होता है। जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। अर्थात् व्यक्ति में जिस प्रकार की सांस्कृतिक सीख विकसित की जाती है उसका व्यवहार उसी के अनुसार प्रभावित होता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में प्रशिक्षण का महत्व उसकी संस्कृति के अनुसार प्रभावित होता है। संस्कृति यदि धार्मिक विश्वासों से युक्त होती है तो उससे सम्बन्धित लोगों का व्यक्तित्व भी धर्म प्रधान परोपकारी तथा सदाचार की भावनाओं से परिपूर्ण होगा। इसके विपरीत तर्कप्रधान संस्कृति से सम्बन्धित व्यक्तियों के व्यक्तित्व में गतिशीलता, स्वार्थपरता, दृढ़ निश्चय, परिश्रम तथा औपचारिकता की प्रधानता होगी। इसी परिप्रेक्ष्य में रूथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति को व्यक्तित्व के लिए अत्यधिक प्रभावपूर्ण मानते हुए कहा है कि “केवल संस्कृति ही व्यक्तित्व के निर्माण का एक मात्र आधार है।”

(5) व्यावहारिक गुणों पर प्रभाव

संस्कृति व्यक्ति व्यवहार के तरीको को सीखता है। व्यक्ति की संस्कृति के गुणों का उसके व्यावहारिक गुणों पर प्रभाव पड़ता है। बच्चे को बाल्यकाल से ही उसके परिवार के द्वारा सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुकूल उसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का विकास किया जाता है। दूसरों के प्रति आदर—सम्मान, तथा अपनी संस्कृति तथा समाज के अनुसार व्यवस्थापन की क्षमता का विकास किया जाता है। इन गुणों के विकास से व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। संस्कृति व्यक्ति को उसकी भूमिका का ज्ञान कराती है तथा उसके अनुसार उसका व्यवहार प्रभावित होता है। व्यक्ति के व्यवहारों में भिन्नता का कारण उसकी संस्कृति में भिन्नता होता है जो यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति के व्यवहार पर संस्कृति का प्रभाव पड़ता है।

12.3 सारांश (Summary)

इस इकाई में संस्कृति के व्यक्तित्व पर प्रभाव को सहज, सरल एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव अमिट है तथा इसकी शुरुआत बाल्यकाल से ही हो जाती है।

12.4 अभ्यास प्रश्न (Questions for Practice)

1. संस्कृति की व्यक्तित्व पर प्रभाविता को समझाइये।

12.5 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference book)

1. Ogburn and Nimkoff: Sociology.
2. Kingslay Davis, Human society.
3. "Culture is a man made part of environment" - M.J.Herskovits, Man and his work.
4. Culture is the complex whole that consists of everything we think and do not have as member of society."-Robert Bierstedt, The Social Order.
5. "Culture is socially transmitted system of idealised ways in knowledge, practice and belief along with the artifacts." - A.W. Green.

